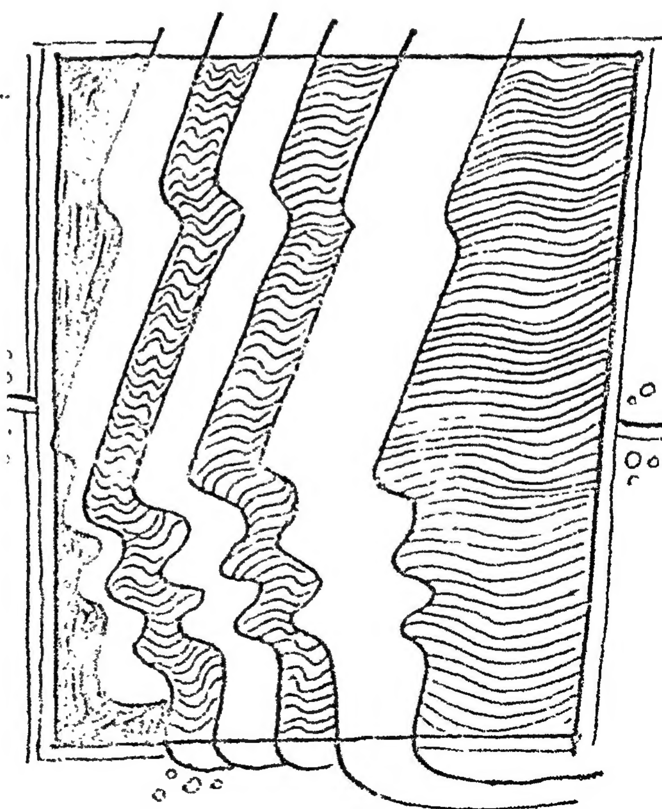
उप-अंतर

योगेश गुप्त



नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : २५.००
स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित—प्रथम संस्करण १९८०—सर्वाधिकार योगेश गुप्त—रेखा बुक प्रो०, सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित।

UP-SAMHAR (Novel) by Yogesh Gupt

क्षिप्रा के नाम—

या तुम, या कोई नहीं,
या शुद्ध शून्य, या स्फटिक आनन्द,
या अधिभूत और अध्यात्म का
अनुभव, एक ही क्षण में
या अनुभव-शून्य, काल-शून्य
विस्तार, मुझे रगेदता हुआ…



१

उसे मालूम है इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। फिर भी वह खिंचा चला जा रहा है। ऐसा क्यों होता है उसे मालूम नहीं है। मालूम होता तो भी वह शायद वापिस नहीं लौट सकता। उसे अपनी लाचारी पर बहुत अकुलाहट होती है। पर अन्दर की दुविधा और द्वन्द्व उसे उसके पास जाने से रोक नहीं पाता। पैदल, बसें बदलता हुआ, कभी-कभी स्कूटर पर वह उस सुखद सान्निध्य के मोह में भागा चला जाता है।

आज भी वह वहीं जा रहा है।

अगस्त का महीना। सुबह धुंआँधार बारिश बरसी है। इस समय भी हल्की बूंदें पड़ रही हैं। सड़क पर कीचड़ है। चप्पलों को एडियों से दबाकर संवारता, छींटों से बचता वह एक बस से उतरा है और दूसरी के लिए स्टैंड पर खड़ा हो गया है। नीचे चारों तरफ भीड़ है और ऊपर आसमान में बादल ही बादल हैं। ज़मीन की चिपचिपाहट मन खराब कर रही है, बादल शरीर पर पंख उगा रहे हैं और बस का न आना दिमाग़ में उद्वेग को पिघला रहा है। उसके साथ हर मौसम में यही होता है। शरीर और मन का तालमेल कभी नहीं बैठता। और इसलिए…

वह उससे एक साल से मिल रहा है।

दिल्ली शहर की कई खूबियां हैं। हर पोश कालोनी के नीचे एक

लिया जा सकता है ।एक ही आदमी में ग्रामीण भाव-वोध और महानगरीय चेतना की झलक समय-समय पर मिलती है। आधा घंटे का सफर वस में करने पर आपका मन दोवारा नहाने को कर सकता है। दिन में दस वीस आदमियों से राजनीति पर वातचीत हो जाये तो शाम को आप दस वीस साल की अपनी राजनीतिक सोच के प्रति अनिश्चित हो उठने को वाध्य हो सकते हैं। स्त्री को लेकर 'स्कैण्डल' यहां ऐसे उठते हैं जैसे सहस्त्रधारा में झाग। और सवसे वड़ी खूवी दिल्ली शहर की यह है कि इसमें हरियाली वहुत है। कुछ सड़कें तो हरी साड़ी में लिपटी पड़ी औरतों जैसी लगती हैं। ऐसी एक सड़क पर उसका घर है। यानी, एक कोठी में उसका घर है; वह रहती है, अपने परिवार के साथ।

नाम है उसका प्रतिभा दत्त। खुद उत्तर प्रदेश की है पर शादी की है एक वंगाली से।

और दिल्ली की सवसे वड़ी खूवी यह है कि वस यहां तव तक नहीं आती जव तक जानेवाले में आंशिक अनिच्छा पैदा न हो जाये। पर इस जगह जाने के लिए सुधीर के मन में अनिच्छा पैदा हो ही नहीं सकती। इसलिए वह अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करने को तैयार है। पर उसे डर है कि वारिश यदि फिर शुरू हो गयी तो वह भीग जाएगा और भीगे कपड़ों में वहां जाना सम्भव नहीं होगा। वह सिकुड़ा हुआ एक पेड़ के नीचे खड़ा है। पेड़ पर से वूंदें टपक रही हैं।···सुधीर सोच रहा है···

एक साल हो गया प्रतिभा से मिलते हुए, पर···

वह उस दिन की वात याद करके हल्का-सा हंस दिया···

सुवह के ग्यारह वजे सुधीर को उसके घर पहुंचना था। कुछ लेट हो गया था। वस से उतरकर घर की तरफ लपका। नजर उस मोड़ पर थी जो उसके घर की तरफ मुड़ता था। गर्मी का मौसम, ग्यारह वजे की धूप थी। उंगलियां झुलसी जा रही थीं। अचानक उसे महसूस हुआ कि पैर के अंगूठे में कुछ हुआ है। ध्यान मोड़ पर से हटा कर उसने नीचे देखा। देख कर भौंचक रह गया। अंगूठे पर से एक मोटी पापड़ी सड़क पर पड़े तार ने छील दी थी और अव पूरी चप्पल पर पैर के नीचे लहू ही लहू था। पैर को चप्पल से वाहर निकालकर वह पल भर देखता रहा। फिर

सामने नज़र डालकर उसने परिचित मोड़ को देखा। अब और देर हो जाएगी। ऐसी हालत में कैसे वहां जाए? ये दोनों वाक्य एक साथ उसके दिमाग़ में उभरे और वह तेज़ी से अंगूठा संगवाने में लग गया। पास बैठे पानवाले ने मदद की। साथ में सलाह भी थी, 'जंगलगा तार है बाबू जी, इंजैक्शन लगवा लेना।'

कोई पन्द्रह मिनट लगे उसे इस क़ाबिल होते कि वहां जा सके। अंगूठा चिसचिस कर रहा था। पर उससे भी ज़्यादा बेचैनी मन में थी। उसे लग रहा था कि उसने ज़िन्दगी के बेहतरीन पन्द्रह मिनट खो दिये हैं।

यह सब क्या है? कैसे होता है? वह सोच-सोच कर खुद चकित होता रहा है। क्या लगती है प्रतिभा उसकी? कोई सम्बन्ध नहीं, किसी सम्बन्ध के होने की गुंजायश भी नहीं। शायद आशा भी नहीं। ठीक है, उसके मन में सुधीर के प्रति सहानुभूति है, उसे कृतज्ञ होना चाहिए, पर कृतज्ञता इतनी अदम्य तो नहीं होती। यह सच है, वह बहुत सुन्दर है पर सौन्दर्य तो किशोर-चेतना पर हावी होता है। फिर दोनों कभी भी सौन्दर्य के विषय में तो बात नहीं करते। उसने शायद ही कभी उसके सौन्दर्य की अलग से तारीफ़ की हो। फिर यह क्या है? यह कैसा बन्धन है? यह उसका जड़ मानस किस गर्मी से पिघला जा रहा है? यह प्रतिभा दत्त उसके लिए क्या है?

बारिश और बस दोनों साथ ही आई। सुधीर भीगने से तो बच गया। दौड़कर बस में चढ़ती हुए भीड़ की ठोकरों-कोहनियों से नहीं बच सका। दोनों पैर औरों के जूतों के कीचड़ से सन गए। कपड़ों की क्रीज कुचली जाकर टूट गई। सिर के तहाये हुए बाल बिफर कर फैल गए। पर जो भी हुआ हो बस उसे मिल गई और यह आशा कि, वह ठीक वक्त पर प्रतिभा के घर पहुंच जाएगा, उसके मन को संतुलित करने लगी। एक कोने में पीठ दीवार से लगाकर वह चुपचाप खड़ा हो गया।

बस के बाहर तेज बारिश हो रही है। आधा घंटे का सफर है, देखा जाएगा।

'एक दिन और लुढ़क गया,' हर शाम यह वाक्य उसके दिमाग़ के किसी न किसी कोने से उभरता है और वह हंस पड़ता है। कभी उसे यह

हंसी बड़ी सार्थक लगती है और कभी एकदम हास्यास्पद। शुद्ध मूर्खता। पर आज उस कोने में खड़े सुधीर के अन्दर यह वाक्य शाम से पहले ही उठ कर खड़ा हो गया। वाक्य को उसने थोड़ा ठीक किया—'एक दिन और लुढ़क रहा है। शाम तक लुढ़क जाएगा। कोई रोक नहीं सकता।' उसने सोचा और हंसी का एक छोटा-सा टुकड़ा उसके अन्दर चक्र में घूमने लगा। हंसी बाहर न आए तो मन को घूमते शीशे के टुकड़ों की तरह काटती है। पर अकेला आदमी हंसे कैसे? प्रतिभा होती तो 'लुढ़क गया' पर हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाती। वह हंसती बहुत है। हंसने का उसे रोग है। बहुत मीठी हंसती है। उसे हंसने के लिए बात छांटनी नहीं पड़ती। किसी बात पर हंस देगी। कोई आदमी छत से कूद कर जान दे दे, तो उसकी सूचना पर हंस देगी। कहेगी 'जान देने का यह तरीक़ा गलत है, आदमी को···' सुधीर बात काट देगा। कहेगा, 'खबर दी है तरीक़ा नहीं पूछा।' तो हंसते-हंसते कहेगी, 'तुम तो ऐसे मुंह बना रहे हो जैसे तुम्हें इसी तरीक़े से मरना है।' न चाहते हुए भी सुधीर को उसकी बातों पर हंसी आ ही जाती है। शायद उसके बात कहने के तरीक़े पर।

तो एक दिन और लुढ़क रहा है। उसने दोहराया है। मन ही मन।

कितने दिन लुढ़क गये। चालीस साल में कितने दिन होते हैं? कौन हिसाब लगाए? हिसाब उसका वैसे ही कमजोर है!

बारिश रुक गई। नहीं, रुकी नहीं। इधर शायद हुई ही नहीं। सड़कें सूखी पड़ी हैं। चलो, अच्छा है, बच गए।···क्या मजेदार बात है, उधर कितनी धुंआंधार बारिश बरसी और इधर···

इधर लुढकता हुआ दिन कीचड़ में नहीं सनेगा, सोच कर वह खिल-खिला कर हंस पड़ता है। अकेला ही।

पांच दिन से प्रतिभा थी नहीं शहर में। कल ही वापस आई है। पाँच दिन सुधीर का मन शुद्ध विषाद में रहा है। कल से कुछ बादल छंटे हैं। सुधीर जानता है, प्रतिभा शहर में होती है तो उसका लघु मस्तिष्क ठीक काम करता है। नहीं होती तो उस पर शाम के रंगों की पतरियां चढ़ी

रहती हैं। वह यह भी जानता है कि आने के भी कई दिन बाद ये रंग घुल-घुल कर साफ होते हैं और वह सहज इंसान बन पाता है। वैसे मानसिक रूप से सहज वह कम ही होता है। एक तनाव में जीना उसका स्वभाव है, शायद जरूरत भी। जरूरत इसलिए कि बिखरी हुई चेतना सिर्फ तनाव के कारण ही जैसे-तैसे जुड़ी-पड़ी रह सकती है। प्रतिभा ने उसके अन्दर की फ़ंजी को बढ़ाया है। पर आज वह फ़ंजी सुधीर की ज़िन्दगी का रस है। पहले जो उद्वेग उसके शरीर को जलाया करते थे आज मिठास देते हैं।

सुधीर को हंसी आती है। वह पहला दिन याद आता है जब प्रतिभा मिली थी।

छोड़ो, क्या याद करना है। मन खराब होता है।

अपना छोटापन याद करना किसे अच्छा लगता है।

हां, था तो छोटापन ही।

किसी को पूरी तरह जाने बिना उसके बारे में हल्की राय बनाना अपने ही अन्दर का छोटापन होता है।

वह तो होता ही है।

होगा। हो गया। उसका काफी पश्चात्ताप वह कर चुका है। खुद को उसी पश्चात्ताप में उसने बहुत छोटा किया है। पर आज भी उसके मन में उस बात की करक तो है। अब क्या करे? जो हो गया उसे अनहुआ तो किया नहीं जा सकता···हां, यह तो है, जो हो जाता है, उसे भूलना तक सम्भव नहीं होता, अनहुआ कर सकना तो बहुत दूर की बात है, सोचना भी मूर्खता है।

पर प्रतिभा का सोचने का तरीका अलग है। वह कहती है—जो हो गया, हो गया। होते ही अनहुआ तो वह खुद-ब-खुद हो जाता है। इसके बारे में सोचना क्या? आगे कुछ और नहीं करना क्या?···वह रोज ही तो कहती है—'जो हो गया, अनहुआ हो गया। आगे बढ़ो।'

सुधीर ने एक दिन पूछा था, "तुम इस क़दर खूबसूरत हो, अपनी खूबसूरती की कान्शस क्यों नहीं हो?"

वह हँस दी थी, कहा था, "उस काम के लिए तुम रहते तो हो

साथ।"

"क्या मतलब ?"

"बता तो दिया, मैं जानती हूं, मैं खूबसूरत हूं।"

"तो ?"

"कान्शस वह होते हैं, जो नहीं होते। समझे ?"

"नहीं, नहीं समझा।"

"और समझोगे भी नहीं। जरा गहरी बात है, तुम्हारे बस की नहीं है।...और यह बात सिर्फ खूबसूरती के होने पर ही लागू नहीं होती... समझे? पर छोड़ो, तुम उड़द की दाल के भाव बताओ। क्या हैं आजकल ?"

कहकर वह हंस दी थी और बहुत देर तक निर्बाध हंसती रही थी।

वह ऐसी ही है। चुटकी लेगी। अचानक बहुत गम्भीर हो जाएगी। फिर सामने बैठे आदमी को एकदम नकार कर अस्तित्त्व इतना दूर कर लेगी कि छूना तो दूर पूरा स्वरूप देखना भी मुश्किल हो जाएगा। तब जैसे सहानुभूति में कोई पागलपन की बात करेगी और सहज-सामान्य होने की कोशिश करेगी। पर एक बार दूर जाकर उसके लिए भी लौटना मुश्किल होता है और तब उसके चेहरे पर दो रंग अलग-अलग चमकने लगते हैं। अपनी इस हालत को वह देर तक बर्दाश्त नहीं कर पाती। कुछ देर इधर-उधर की बातें इधर-उधर लुढ़का कर वह अपने घर की तरफ भाग निकलती है। इस मनःस्थिति में वह बेहद खूबसूरत लगती है। उसकी बातें बहुत बामानी हो जाती हैं।

एक दिन बोली थी, "तुम्हें मालूम है सुधीर, डूबने से पहले सूरज के चारों तरफ ये रंग क्यों बिखरते हैं ?"

"नहीं, मुझे नहीं मालूम !"

"हां, तुम्हें क्यों मालूम होगा। तुम्हारे डूबने का वक्त अभी आया भी कहां है।"

"तुम्हारा आ गया ?"

"ये सुधीर, उसकी दिन भर की रंग-बिरंगी स्मृतियां होती हैं।"

"होती होंगी। मेरी बात का जवाब दो।"

पल भर चुप रह कर पूछती, "कौन-सी बात ?"

पर चाह कर भी सुधीर प्रतिभा के डूबने की कल्पना को प्रश्न बनाकर उसी के सामने न रख पाता। धीमे से कहता, "तुम्हारे मन में क्या है प्रतिभा, कभी बताओगी नहीं ?"

तो हंस पड़ती, कहती, "मेरे मन में कुछ भी हो, यह तय है कि तुम नहीं हो। मालूम है ?"

"है मालूम। मैं पूछ रहा हूं, तुम्हें कोई दुख है ?"

सीधे प्रश्नों से प्रतिभा बहुत चिढ़ती है। बोली, "है। तुमसे मिलना पड़ता है, यही मेरा सबसे बड़ा दुख है।"

प्रतिभा की यही विशेषता है। मन के ही नहीं शरीर के रंग भी इतनी तेजी से बदलते हैं कि वाकई डूबते सूरज का खयाल आता है। मन उसका खरगोश की तरह दिशा बदल-बदल कर भागता है और शरीर···लगता है जैसे खुली हवा में न पलकर अलग-अलग कैमिकल्स से भरे अलग-अलग टबों में रखा जाकर अपना अस्तित्त्व जैसे-तैसे बनाए हुए है।

देखो, आज किस रंग में मिलती है।

२

तीन दिन पहले की बात है।

सुबह का वक्त। सुधीर की आंख खुली-खुली है। दिमाग अभी तक गुनगुना है। रात उसे बहुत कम नींद आई है। न जाने वह कहां-कहां घूमता रहा। प्रतिभा के शहर में न रहने पर वह रात को भटकता बहुत है। प्रतिभा मुसल्सल साथ रहती है। और सारी रात की भटकन सुबह तक

शरीर को तोड़ कर रख देती है। सारे वदन में दर्द है। आवारगी का हैंग-ओवर दारू के हैंग-ओवर से ज्यादा गुनूदगी पैदा करता है। इस तन्द्रा का अपना मजा है। कोई इसे तोड़ने की कोशिश करता है तो गुस्सा आता है।

वह खाट पर उठकर वैठ गया है और तन्द्रा की गांठों के खुलने का मज़ा ले रहा है। रात की यात्राओं के छोटे-छोटे टुकड़े चेतना से टूट-टूट कर गिर रहे हैं। खिड़की से वाहर का मौसम दीख रहा है। खुशनुमा है। गहरे धूसर वादल पूरे आकाश को ढके हैं। वूंदें शायद नहीं वरस रहीं। मौसम तन्द्रा को गाढ़ा कर रहा है। पर···

पत्नी ने सुवह का अखवार लाकर सामने रख दिया है। वह जानती है सुधीर की तन्द्रा तोड़ने का एक मात्र तरीका अखवार है। अखवार वह प्रेम-पत्र की तरह पढ़ता है और यह सच है कि दूसरा प्रेम-पत्र ही पहले प्रेम-पत्र के अक्षरों को धुंधला कर सकता है। सुधीर भी जानता है कि अखवार उसकी तन्द्रा तोड़ देता है। पर उसका तर्क अलग है। वह मानता है कि व्यक्तिगत भ्रम सामाजिक भ्रम में घुलकर ही रूप खोते हैं। वहुत से व्यक्तियों को भ्रामक स्थिति से उवारना हो तो एक वड़ा-सा सामाजिक भ्रम पैदा कर दो। वस, सव ठीक हो जाएगा। ये सव नीति-धर्म और आदर्श विचार-धाराएं और हैं क्या···उसे अपने इस तर्क पर कभी-कभी हंसी भी आती है पर अपनी इस धारणा को ध्वस्त कर सकने योग्य तर्क वह कभी इकट्ठे नहीं कर पाया। सीधे अनुभव में से भी यही वात सिद्ध होती है। इतिहास इस धारणा को झुठलाता दीखता है पर इतिहास का सत्य···

उसने अखवार पढ़ना शुरू कर दिया।

दो मिनट वाद पत्नी चाय का गिलास उसके हाथ में पकड़ा गयी।

गिलास में से पहला घूंट भरते हुए उसने जाती हुई पत्नी की तरफ देखा। सिर्फ झम्पर और पेटीकोट में से उसके शरीर के कंटूर झलक दे रहे हैं। वहुधा सुधीर को यह अच्छा नहीं लगता। रमा के शरीर ने अभी अनुपात नहीं खोया है। जैसी व्याह के वक्त थी वैसी ही आज है। तीन वच्चों की मां है पर अभी चाहे दोवारा व्याह कर लो। सोचकर उसे हँसी आई। साथ ही रमा पर प्यार भी आया। चाय का दूसरा घूंट मारा और

साथ ही पत्नी को पुकार उठा, "रमा-आ !"

रमा फिर कमरे में दौड़ी। पूछा, "क्या है ? चीनी कम है ?"

"नहीं। ठीक है।···और यह तुमने धोती क्यों नहीं पहन रखी ?"

रमा ने पति की तरफ देखा, फिर हंस कर कहा, "शुकर है। आज तुमने मेरी तरफ देखा तो सही।"

"जो पूछ रहा हूं, उसका जवाब दो।"

"दूसरी बार चाय लाऊंगी तो धोती पहन कर आऊंगी।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि जब एक घंटे बाद दूसरी चाय लोगे तब तक धोती किसी क़दर सूख जाएगी और मैं पहन कर आपके सामने हाजिर हो जाऊंगी। जाऊं ?"

"बहुत मुहावरेदार भाषा बोलने लगी हो ?"

"लेखक की पत्नी हूं, खेल थोड़े ही है।"

"तुम्हारे पास दूसरी धोती नहीं है ?"

"है क्यों नहीं। ट्रंक भरा पड़ा है। पर कौन निकाले ? मैं बहुत आलसी हूं ना।···चलूं, स्टोव खाली जल रहा है।"

वह चली गई। सुधीर बहुत देर बैठा सोचता रहा। पता नहीं क्या-क्या। फिर अचानक जोर से हंस पड़ा। अखबार पढ़ने को मन नहीं किया। खबरें आती भी क्या हैं ? कैसे एक नेता ने दूसरे नेता की टांग खींची और कैसे वह नेता गिरते-गिरते भी हमलावर को टंगड़ी मार गया। वह भी गिर गया···सभी साले गिरे पड़े हैं और सब समझते हैं कि···पर कम-से-कम अपराध-समाचार तो पढ़ ही लेने चाहिए। उनमें मजा आता है। पर···

उसने फिर पुकारा, "रमा-ऽ !"

"अब क्या है ?" रमा ने दूसरे कमरे से ही कहा।

"यहां आओ।"

रमा आई तो धोती पहने थी। शायद गीली ही पहन आई। पर सुधीर के दिमाग़ में अब वह बात थी ही नहीं। उसने रमा के दीखते ही कहा, "बैठो यहां आकर, तुम्हें एक कहानी सुनाता हूं।"

"अरे, कहानी सुनने का वक्त है यह। खाना तैयार करना है। बच्चों के जाने का वक्त हो रहा है। मैं तुम्हारी तरह निठल्ली नहीं हूं।"

सुधीर तिलमिला उठा, "होशियारी छोड़ो, बैठो पांच मिनट। बस, पांच मिनट से ज्यादा नहीं लगेंगे। बैठो।"

रमा खाट पर ही बैठ गई, "बोलो।"

सुधीर ने कहानी शुरू की, "तुम्हें तो मालूम नहीं है रमा, हमारे एक बड़े भाई थे। ताऊजी के लड़के। उम्र में हम से बहुत बड़े। मर गए। अभी मरे हैं तीन चार साल हुए। सम्बन्ध नहीं रहे थे इसलिए तुम से ज़िक्र करना याद नहीं रहा। मुझे भी मरने के बहुत बाद पता चला था। उनके साथ एक बहुत विचित्र घटना घटी थी। कहते हैं उनकी पहली शादी के कुछ ही दिनों बाद एक सांप उनके घर में आकर रहने लगा। उसे बहुत निकालने की कोशिश की। हंडिया में बन्द करके दूर जंगल में छुड़वाया पर वह फिर आ जाता। और एक दिन तो कहते हैं रमा, वह सारी रात भाभी के बिस्तरे में पड़ा रहा और भाभी को पता भी नहीं चला। फिर एक दिन तय किया गया कि सांप को मरवा दिया जाए। सांप पकड़ने वाले बुलाए गए और सांप को मरवा दिया गया। तुम्हें मालूम है रमा, भाभी भी एक महीने के अन्दर मर गई। भाई साहब की दूसरी शादी फिर बड़ी मुश्किल से हुई थी।···अरे, तुम हंस रही हो?"

"तो क्या डरूं? सच बताना, यह कौन-सी फिल्म से उड़ाई है?" कहकर रमा खिलखिलाकर हंस दी।

पर सुधीर गम्भीर था, बोला, "हंसने की बात नहीं है रमा, यह एकदम सच्ची घटना है।"

"तुमने देखा था सांप?"

"पिताजी बताया करते थे और उन्हें झूठ बोलने की बिल्कुल आदत नहीं थी। साथ ही उनका इस सब पर विश्वास भी नहीं था। वे हमेशा चकित भाव से ही इसे सुनाते थे। उनकी बात को···"

रमा ने काट दी, "आज यह कहानी क्यों याद आ गई?"

"रात सपने में भाई साहब दीखे थे।"

रमा उठकर खड़ी हो गई। वह भी अब गम्भीर हो गई थी। एकदम रूखी आवाज़ में बोली, "तुम्हें चिन्ता करने की जरूरत नहीं है, यहां कोई सांप नहीं आता और सुनो, मन पर जो काम वजन डाले वह नहीं करना चाहिए, रात को बुरे-बुरे सपने दीखते हैं। समझे?"

"क्या मानी?"

"मानी यह कि मेरे पास फालतू बातों के लिए वक्त नहीं है। और मेरे से तुम उतनी ही बात किया करो जितनी जरूरी हों।"

रमा चली गई। सुधीर सामने पड़े अखबार को उलटने-पलटने लगा पर अखबार के सभी अक्षर उसके लिए धुंधले हो गए थे। उसी की सुनाई कहानी को रमा ने जिस तरह घुमाकर उसके मुंह पर मार दिया था उससे वह सुन्न रह गया था। यह बात सच है कि यह कहानी उनके घर में सच्ची घटना की तरह कही-सुनी जाती रही थी। रमा पर आज सुबह उसे स्नेह आया था। उसने सोचा था कि एक मनोरंजक और चौंका देने वाली कहानी सुनाकर वह उसे भी सरस कर देगा। पर रमा ने किनारा पकड़कर सारी चौपड़ गोटियों समेत उलट दी। उसका मन एकदम खराब हो गया।

वह खाट पर फिर पसर गया।

दो छोटे-छोटे कमरों के इस छोटे-से फ्लैट में सुधीर, पत्नी रमा और तीन बच्चों के साथ रहता है। कहने को वह लेखक है जरूर पर लेखक की एक भी अदा उसमें नहीं है। दिखावट में एकदम साधारण, स्वभाव से उग्र और निहायत अस्थिर चित्त आदमी वह माना जाता है। सुधीर अन्दर ही अन्दर खुद को जानता है। वह जानता है वह मूलतः कायर और डरपोक प्रकृति का आदमी है। उसकी साधारणता सिर्फ दिखावटी नहीं है, वह है ही साधारण। चरित्र में जो एक गरिमा होती है, वह उसमें नहीं है। पर अपनी सभी कमज़ोरियों को कहीं छिपाने और कहीं युक्तिसंगत साबित करने के लिए उसने एक बेहद उलझा हुआ तर्कजाल बुन रखा है जिसके पक्ष में वह हमेशा एक ज़िद में अड़ा रहता है, कभी पीछे नहीं हटता। यह तर्कजाल अगर कहीं छिन्न-भिन्न होता है तो सिर्फ प्रतिभा के सामने। वहां सुधीर की सारी आक्रामक उग्रता काफूर हो जाती है। उनके

सामने उसकी निरीहता देखते ही बनती है। और यही शायद सुधीर में प्रतिभा के प्रति फैलते मोह का कारण है। क्योंकि वह अपनी कमजोरियां जानता है इसलिए अपने अच्छे रूप को महसूस करने के लिए तरसता है। वह उसे प्रतिभा के सामने होते ही उभकने लगता है, तभी वह···

ऐसा नहीं है कि प्रतिभा उसके लिए सिर्फ लेखिका है, सुन्दर स्त्री है ही नहीं। है, पर सुधीर के मन को उसका भूत और कापुरुषता इस तरह दबोचे रहती है कि साहस की बूंद दो बूंद जब भी उसमें उभरती, सिर्फ गर्मी में उभरी पसीने की बूंदों की तरह, जो उसे, ज़ाहिर है, पहले या बाद में पूंछ कर फेंक देनी पड़ती हैं···

···पर आज···आज सुधीर ने सोचा है, वह प्रतिभा से बहुत-सी बातें खुलकर करेगा।

बस, स्टाप आने ही वाला है।

यहां बारिश नहीं हो रही।

३

दो स्टाप और हैं, उसका स्टाप आ जाएगा। बस में अब पहले की तरह भीड़ नहीं है। सुधीर का मन थोड़ा हल्का हुआ है। बहुत-सी ऊदी पीली धुंध छंट रही है। अच्छा लगने लगा है। प्रतिभा के पास पहुंचने तक उसका मन बिल्कुल साफ हो जाएगा, शीशे की तरह। मन के चारों तरफ जो घिरा रहता है वह प्रतिभा के प्रभाव-क्षेत्र के सामने टिक नहीं पाता। मन तो ठीक हो रहा है, पर कपड़े ? कैसे हो गए हैं ? जैसे अभी-अभी घड़े से निकाले हों। और पैर ? जैसे अभी गारा ढोकर आया हो। इन्हें तो धोना ही पड़ेगा। बस में सफर करके शरीर कैसा किचकिचा हो जाता

है। अन्दर की कापुरुषता को और बढ़ाता है। मन शरीर से कोई अलग चीज़ थोड़े ही है। शरीर मैला हो तो मन कैसे साफ रह सकता है। या फिर शरीर को आदमी एकदम नकार दे। पर···नहीं, शरीर बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, माध्यम !···उसको नकारना प्रेम को नकारना है··· वह···

ऐसे ही न जाने कितना ऊलजलूल सुधीर सोचता रहा। पर काम की बात उसने एक नहीं सोची। यह तक नहीं कि आज प्रतिभा से क्या बात करेगा ? खुलकर बात करने का फ़ैसला किया था उसने मन ही मन। पर प्रतिभा से खुलकर बात करना इतना आसान है ? वह क्या···

स्टाप आ गया।

वह बस से नीचे उतर आया। चारों तरफ देखा। खुला आसमान। तेज़ चुभने वाली धूप, पर हवा में नमी। धूप की चुभन नम हवा के झोंकों में सुख दे रही है···प्रतिभा के सान्निध्य में जैसा होता है···उसकी बुद्धि की चुभन और सौन्दर्य की नमी ! क्या कहेंगे इसे ? बौद्धिक सुन्दरता या सुन्दर बुद्धि···कुछ भी कह लो···पर वह है लाजवाब···हां, वाक़ई उसका जवाब मिलना मुश्किल है···

सुधीर का मन बहुत हल्का हो गया। दूसरे की प्रशंसा से मन हल्का होता ही है···फिर प्रतिभा तो···

रास्ते के एक नल पर उसने पैर धोये। रूमाल गीला करके मुंह पर फेरा। बालों को दोनों हाथों से पीछे हटाकर जमाया और मन ही मन खुद पर हंसता हुआ वह प्रतिभा के घर की तरफ चल दिया। अब पांच मिनट पैदल चलना पड़ेगा।

पांच मिनट बाद वह दीखेगी। उसने खुश होकर चारों तरफ देखा। सूरज चमक रहा है। पर दायीं तरफ से घने बादल चढ़े आ रहे हैं। इधर भी बारिश होगी। हो, अब हमें क्या डर है। हम तो उसकी छाया में जाकर बैठ जायेंगे। बरसा करें। पानी से क्या भीगना है। सिर्फ शरीर गीला होता है। उसकी दृष्टि का भूरापन पूरी चेतना को भिगो देता है।

कितनी उद्दीप्ति है उसकी दृष्टि में। दो दीये समान्तर जलते दीखते हैं। पारदर्शी लौ···

हरियाली में लिपटी पड़ी सड़क आ गयी। सड़क से नीचे उतर कर चलना चाहिए। सोई पड़ी है। या किसी के खयालों में मोह-जड़ है। चंचल मन चेहरे पर एक ठोस पतरी चढ़ा देता है। ठोस पतरी तो बीच-बीच में प्रतिभा भी चेहरे पर चढ़ा लेती है। मन तो चंचल है उसका···पर छोड़ो, उस दिशा में नहीं सोचना चाहिए। शरीर का स्फुरण मन के स्वाद को तीता कर देता है। अनुभव को सीधा चेतना तक जाने देना चाहिए। किसी माध्यम की ज़रूरत नहीं। पर···

घर आ गया।

तीन कोठियों से पहले खड़े प्रेसवाले को देखकर उसे उसकी कोठी का खयाल आता है। हाथ-ठेले पर फैले कपड़ों की, सख्त होंठों से, सिलवटें निकालते प्रेसवाले के चेहरे की सन्नद्धता बहुत अच्छी लगती है। काला, सिलवटों-भरा चेहरा, कसे होंठ भींच-भींच कर प्रेस सरकाता है,—उसे बहुत हंसी आती है। कभी-कभी इसी ठेले पर एक तक़रीबन जवान लड़की भी काम करती होती है। वह न होंठ भींचती है, न चेहरे पर तनाव लाती है। हंस-हंस कर काम करती जाती है और पास खड़े मूल ग्राहक के नौकर से बतियाती भी जाती है। सुधीर ने कई बार सोचा है—वह कपड़े भी अच्छे प्रेस करती होगी। होंठ भींचने से प्रेस की गर्मी बढ़ थोड़े ही जाती है।—उसने आज भी सोचा और उसके चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कराहट खिल आई।

कोठी आ गई। दौड़ते हुए बादल भी आकर सिर पर खड़े हो गए। पूरी दीखती दुनिया एक गुम्बद बन गई। रोशनी की आंखें मुंद गईं। अन्दर भूरा अंधेरा पिघल कर बहने लगा। सब दिशाएं एकमएक हो गईं। गोल गुम्बद में क्या पूरब, क्या पश्चिम। पर···दिशाओं का मिटना सुखद है···या दुखद···या दोनों से परे···

प्रतिभा के पास बैठ कर भी तो उसे दिशा-बोध नहीं रहता।

सुधीर तेज क़दमों से कोठी में घुस गया। मेन-गेट खुला था। वह पहली मंजिल पर रहती है। एक लम्बा गलियारा। फिर बाईं तरफ मुड़-

कर कुछ सीढ़ियां चढ़नी होती हैं। गहरी ऊदी हरियाली में लिपटे पड़े इस दीर्घकाय स्फटिक में क़ैद ओस की पारदर्शी बूंद तक पहुंचने के लिए। पर ···जितनी भी दफा वह यहां आया है, इन सीढ़ियों पर कुछ मिनट भय-भीत खड़ा रहा है···आज भी रुक कर खड़ा हो गया है। प्रतिभा को देखने का उद्दाम आवेग भी उसे दो-तीन मिनट तक खिसका नहीं पाया है।

वह यहां खड़े होकर हमेशा एक ही बात सोचता है—क्या किसी दिन ऐसा हो सकता है कि वह यहां आए, घंटी बजाये, कोई और दरवाजा खोले और सूचना दे, 'सॉरी, प्रतिभा हमेशा के लिए चली गई।' या वह आए, दरवाजा खुला पड़ा हो। वह अन्दर घुस जाए। अन्दर कोई न हो। वह पुकारे, कमरे-कमरे, कोने-कोने में उसे ढूंढे, वह न मिले और···

क्या करेगा वह किसी दिन ऐसा हुआ तो ?

नहीं, वह नहीं सोच पाता कि उस दिन वह क्या करेगा ? किसी दिन नहीं सोच पाया। न ही सोच पाएगा। उसकी सारी कल्पनाशक्ति यहां आकर कुन्द हो जाती है। इतने गहरे अंधेरे में कल्पना की आंखें भी क्या देख सकती हैं। सिवाय कुछ ऐसी आकृतियों के जो भय को और गाढ़ा करें। और इस गहरे अंधेरे से भयभीत होकर ही वह घंटी का बटन दबा देता रहा है···आज भी उसने बटन दबा दिया है···

पर इस आक्रामक भय का एक फायदा भी होता है। उसके भीतर उफनता असभ्य आवेश कुंठित होकर सो जाता है। प्रतिभा के सामने वह सभ्य बन कर ही पेश होता है।

प्रतिभा के ड्राइंग-रूम की सजावट सज्जा-कला की कई भंगिमाओं का मिश्रण है। बर्फ शेड़ की साफ-सुथरी दीवारें। फर्श पर गोल उन्नावी रंग का कालीन। बड़े-बड़े कोच और बेंत की कुर्सियां भी। कोने में गमले और काठ पर उभरी अनर्थक-आकर्षक आकृतियां। कमरे की तीन दीवारें सीधी हैं और एक चाप है। चाप की तरफ छज्जा है और छज्जे से कटा आसमान टेलीविजन के स्क्रीन की तरह दीखता है। प्रतिभा हमेशा छज्जे की तरफ मुंह करके बैठती है, आकाश के विशाल ब्लू-स्क्रीन को देखती

हुई।

इस समय ब्लू-स्क्रीन पर गहरे बादल छाए हुए हैं।

प्रतिभा बैठी देख रही है।

सुधीर पास की कोच पर बैठा प्रतिभा को देख रहा है।

प्रतिभा कहीं बहुत गहरे में डूबी है।

स्क्रीन पर दीखा है। बारिश आ गई है।

छज्जे से ही दीखती पेड़ों की टहनियाँ और बेलों की लड़ियां पल भर बूंदों की छुअन से कांपी हैं फिर मोह-मुग्ध लय में हिलने लगी हैं।

वातावरण की सुगन्धि को छितराता हुआ सुधीर बोला है, "कैसा रहा ट्रिप ?"

बोलकर उसे महसूस हुआ कि उसकी आवाज कर्कश है। आवाज ने चारों तरफ जमी प्रशान्ति को फोड़ दिया है। चुप रहता तो रस निर्वाध बहता रहता, पर अब···

प्रतिभा ने कहा है, "ठीक रहा।"

"क्या हुआ ?"

"कहां ?"

"कुछ खोई-खोई हो ?"

"हूं, तो ?"

"पूछ रहा हूं, क्यों हो ?"

"वह मेरी व्यक्तिगत समस्या है। तुम कैसे जानोगे ? और क्यों जानना चाहोगे ?"

सुधीर चकित रह गया। अन्दर की कुचमुचाहट को दबा कर उसने कहा, "चलो, नहीं सही, कुछ और बात करो।"

"क्यों, बात करना जरूरी है ?"

"तो ?"

"चुप बैठो। चाय बन रही है, पीना।"

"मैं इतनी दूर से चाय पीने आया हूं ?"

"और क्या करने आए हो ? कुछ काम तो आज था नहीं।"

इस बार सुधीर ने आहत महसूस किया। रूखे स्वर में बोला, "तो,

बोलो, जाऊं ?"

"चलो, चाय पीकर ही चले जाना।"

सुधीर उठना चाह कर भी उठ नहीं सका। यही सुधीर की कमज़ोरी है। प्रतिभा के पास से उठना उसके लिए बहुत मुश्किल काम है। प्रतिभा के हल्के से इशारे पर वह जम कर बैठ जाता है और तब तक नहीं उठता जब तक प्रतिभा उससे सीधे न कहे—जाने के लिए। चाय पीकर जाना, सुनकर वह कोच में पसर गया। यह तय करके कि इस दफा पहले प्रतिभा बोलेगी।

प्रतिभा बोली और फिर कई घंटे तक दोनों बोलते रहे। हंसते रहे। तरह-तरह की बात-चीत बीच में लुढ़कती-पुढ़कती रही। देश की, साहित्य की, राजनीति की और अपने सम्बन्धों की। मौसम की और मन की। बीच-बीच में चाय आती रही। दोनों को महसूस हुआ कि बातचीत रस दे रही है कि अचानक सुधीर पूछ बैठा, "आते-आते तुम्हें क्या हुआ था प्रतिभा ?"

प्रतिभा मिनट भर चुप रही, फिर बोली, "बारिश बन्द हो गयी है, अब तुम जाओ।"

"चलता हूं···बताओगी नहीं ?"

प्रतिभा का चेहरा सख्त हो उठा, बोली, "नहीं, तुम जाओ।"

"चलो, नहीं पूछता। एक कप चाय और पिला दो।"

"नहीं, और अब तुम जाओ ही। सुबह फोन करना, कल हो सका तो मिलेंगे···और तुम्हें ऊटपटांग सवाल पूछने हों तो नहीं मिलूंगी, ठीक ?"

कहते-कहते प्रतिभा का चेहरा पत्थर की तरह कठोर हो उठा। उस का मर्मरी रंग पीला हो गया। उसकी दोनों असाधारण, बड़ी-बड़ी आंखों में नमी तिरती न होती तो सुधीर वाक़ई उस चेहरे से डर जाता। वह चुपचाप उठकर बाहर खिसक आया। कोठी से बाहर सड़क पर आकर पीछे मुड़कर देखा। दीर्घकाय स्फटिक नहा-धोकर हरा कोपीन पहने खड़ा है। कहीं-कहीं पानी की बूंदें हरे कोपीन पर लटकी हुई हैं। अभी गिर कर फूट जायेंगी। फूट जाने दो। पर स्फटिक के अन्दर बन्द वह···

सुधीर पल को सिहर उठा।

उसने ऊपर आसमान की तरफ देखा। बादल जा चुके हैं। नीला-साफ आसमान कैसा भदेस लगता है। कोरी औरत की तरह···

४

बस से उतरते ही सुधीर को महसूस हो गया—वह दूसरी दुनिया में आ गया है।···दूसरी दुनिया···सुधीर की असली दुनिया···नहीं, असली दुनिया नहीं, वह दुनिया जिसमें सुधीर रहता है, असली दुनिया से तो वह लौटा है।···असली दुनिया में रह कौन पाता है···

पर नहीं, असली दुनिया वही होती है जिसमें आदमी रहता है···

सुधीर ने सड़क पार की। वह धीरे-धीरे अपने घर की तरफ खिसक चला।

यहां के आसमान पर अभी भी बादल घिरे हैं।

इस आसमान के बादल अलग हैं। जैसे किसी ने धुएं में घोलकर काली-भूरी मिट्टी आसमान में उछाल दी हो···इस कालोनी के चारों तरफ फैली फैक्टरियों की चिमनियां धुआं उगलती भी बहुत हैं। धूल तो खैर बारिश से कीचड़ में बदल जाती है और उड़ना बन्द कर देती है, पर कीचड़-सने पैरों से जब आदमी घर की तरफ बढ़ता है तो मन बहुत उड़ता है। सुधीर के घर तक जो गली छोड़ती है उसमें दोनों तरफ लगातार फैक्टरियां हैं। बारिश न भी हो तब भी सारी गली में पानी भरा रहता है। फैक्टरियों का फालतू पानी। गली के कीचड़ का क्लाइमैक्स गली के अन्त में आता है। यहां एक तरफ रबर की चप्पलों की स्टेपीज़ बनाने का कारखाना है तो दूसरी तरफ शीशे के कंचे बनाने का। दोनों तरफ से तीखा गन्ध वाला पानी निकलकर गली में फैलता है और फिसलन

पैदा करता है। गली के इस हिस्से को पार करना उतना ही मुश्किल है जितना हनुमान के लिए लंका तक पहुंचने के लिए समुद्र पार करना। हनुमान को तो खैर 'लांग-जम्प' का अच्छा अभ्यास रहा होगा। पर यहां अक्सर जम्प मारते वक्त लोग पीठ के बल धराशायी होते देखे गए हैं और उठने की कोशिश में बार-बार फिसलने का उनका करतब कम-से-कम चार आने का मज़ा तो दे ही जाता है।

पर गली पार करते ही मज़ा आता है। रेल की पटरी पार करते ही—दो फर्लाङ्ग लम्बी कालोनी दीखने लगती है। पटरी के दोनों तरफ पानी इसलिए इकट्ठा नहीं होता क्योंकि ढ़लान है। और फिर क़तारों में एक के ऊपर एक खड़े हजार क्वार्टर—छोटे-छोटे बारह-बारह का गुट बनाये। क़तारों में खड़े बच्चों की तरह। ड्रिल करते बच्चे सीधे होते हुए भी टेढ़े होने का भ्रम पैदा करते हैं। बीच के गैप से देखने पर।

पटरियों के ढ़लान पर उतरते हुए सुधीर का अंगूठा एक पत्थर से टकराया। हल्का-सा दर्द हुआ। उसे याद आया कि प्रतिभा के घर जाते हुए यही अंगूठा फटा था। अब ठीक हो चुका है। अच्छा हुआ बरसात से पहले ठीक हो गया। नहीं तो कितना कष्ट दे सकता था। जिस तरह खुले पैरों कीचड़-पानी में घूमता है, उससे तो—

कालोनी में घुसते ही सुधीर की सोच, भाषा, चलने-खड़े होने का ढंग सब बदल जाता है। उसको यह परिवर्तन साफ तौर पर महसूस होता है। बहुत दिनों पहले एक और तरह का परिवर्तन अनुभव किया करता था। दिल्ली से जब अपने गांव जाता था तो गांव के बाहर बहती नदी पार करते ही उसे लगता कोई हवा में से उसके शरीर में प्रवेश कर गया है। या लगता जैसे नदी से गांव के घर तक उसके साथ-साथ चल रहा है और उससे बात कर रहा है। उससे बात करते-करते ही अन्दर सब बदल गया है। बदलाव पूरा होते-होते ही वह चला गया है। यह बदलाव उसे गांव के लिए और गांव को उसके लिए यथापूर्व परिचित कर देता और वह गांव का रस ले पाता। गांव छूट गया। यह कालोनी भी किसी दिन छूट जाएगी।

तो··· ?

जगह का भी एक चेतन व्यक्तित्व होता है।

वह तो होता ही है।

पर व्यक्तित्व चेतन वही होता है जो दायरे से बाहर भी अनुभव किया जा सके।

जैसे···जैसे प्रतिभा का है···वही तो···

घर में घुसते ही सुधीर ने वातावरण में एक तनाव की गन्ध पाई। रमा बाहर के कमरे में बिछी एक आरामकुर्सी पर बैठी कोई मैगजीन पढ़ रही है। चेहरा नीचे झुका है पर उस तनाव की गर्मी साफ दीख रही है। लड़की संज्ञा दीवार की तरफ मुंह किये पलंग पर लेटी है। उसके आधे बदन पर चादर पड़ी है। सत्रह-अठारह साल की संज्ञा घर में तनाव पैदा करने में माहिर है। उसके दोनों छोटे भाई समीर और संदीप अभी दस साल से कम हैं, और घर में तैरती खुशी को जितनी जल्दी वे समझ लेते हैं, तनाव को नहीं सूंघ पाते। इसलिए ज़मीन पर बैठे लड़-लड़ कर खेल रहे हैं।

सुधीर ने चप्पलें एक तरफ उतार कर पत्नी के सामने पड़ी कुर्सी पर बैठते हुए कहा, "यहां भी दिन भर बारिश हुई ?"

पत्नी ने मैगजीन में सिर गड़ाए-गड़ाए कहा, "जी हां। खाना लाऊं ? मुंह-हाथ धोओगे ?"

सुधीर चुप रहा। फिर धीरे से बोला, "क्या हुआ ?"

"खाना ले आऊं ?"

"हो क्या गया ? यह संज्ञा ऐसे क्यों पड़ी है ? तबीयत तो ठीक है !"

रमा से कुछ भी पूछने से सुधीर कतराता है। एक तो उसे बात को गम्भीर बनाकर बताने की आदत है। दूसरे स्थिति या वातावरण का तनाव उसके चेहरे पर इतना साफ अंकित होता है कि घबराहट होती है। फिर भी घर में तनाव हो और गृहपति न पूछे यह भी नहीं हो सकता।

सुधीर चाहता है खाने से पहले ही पता चल जाए कि क्या हुआ है, नहीं तो खाने में किरकल आती रहेगी।

सुधीर ने फिर टटोला, "क्या हुआ रमा, बताती क्यों नहीं ?"

इस बार रमा बोली, "संज्ञा से ही पूछो।"

"तुम्हीं बता दो।"

"नहीं, इसी से पूछो।"

"अजीब पागलपन है। तुम्हीं क्यों नहीं बता देती।"

"खाना खा लो, फिर बता दूंगी।"

"नहीं, पहले बताओ।"

और इस बार सुधीर का स्वर रूखा हो उठा।

रमा ने बताया—परसों इसके कालिज में कुछ है। इसे भी उसमें शामिल होना है। कहती है नया सूट नहीं होगा तो शामिल नहीं होगी और शामिल नहीं होगी तो फिर कभी कालिज नहीं जाएगी।...इसी-लिए..."

सुधीर ने सुना। सुनकर समझा और समझकर जोर से ठहाका मारकर हंस पड़ा और फिर काफी देर तक निरन्तर हंसता रहा। संज्ञा जो अब तक दीवार की तरफ मुंह किए पड़ी थी चौंक कर सीधी हो गयी और पिता का मुँह देखने लगी। रमा भी हतप्रभ थी। कुछ देर चुपचाप देखती रहकर वह बोली, "इसमें इतना हंसने की क्या बात है ?"

सुधीर ने कहा, "वही तो, इसमें इतना रोने की क्या बात थी ?"

"बात क्यों नहीं थी। हमें पता है सूट नहीं बन सकेगा। और तुम जानते हो संज्ञा कितनी जिद्दी है।"

"और तुम दोनों को यह पता नहीं है कि हम कितने जिद्दी हैं।"

"तुम क्या करोगे ?"

"हम सूट सिलवा कर ही रहेंगे।"

कहकर सुधीर फिर जोर-जोर से हंसने लगा।

रमा ने भी हंसते हुए कहा, "आज बहुत खुश नजर आ रहे हो। क्या

"खाना लाऊं ?"

"हां।"

खाने पर रमा ने फिर पूछा, "आज इतने खुश क्यों हो ?"

"अरे, तुम दोनों की बेवकूफी पर हंस रहा हूं। और क्या—"

रमा गम्भीर थी। बोली, "बेवकूफी पर गुस्सा किया जाता है।"

"जिनसे आदमी प्यार करता है उनकी बेवकूफी पर हंसी आती है, प्यार आता है। नहीं ?"

रमा इस बार हंस पड़ी, बोली, "नहीं, आदमी जब अन्दर से खुश हो तो गुस्सा करने की बात पर भी हंसता है।"

सुधीर ने स्वर को यथाशक्ति गरिमामय बनाकर कहा, "रमा, तुम्हें हर समय कोरी दीवार पर तस्वीर लटकी क्यों दीखती रहती है ?"

रमा गम्भीर हो चुकी थी। चौकस भाव से खाना परसती हुई बोली, "तस्वीर अगर लटकी हो तो औरों को ही दीखती है, खुद को जरा देर से ही दीखती है। पर खैर, मुझे तस्वीर की न चिन्ता है, न एतराज है। पत्नी पास की दीवार होती है, तस्वीर कभी नहीं बन पाती। ठीक है। पर मेरी चिन्ता है कि—"

"चुप क्यों हो गई ?"

"नहीं, चुप नहीं हुई। जरा शब्द ढूंढ़ रही थी। तुम्हारी तरह मैं लेखक तो हूं नहीं कि शब्द हर समय नाखूनों से झरते रहें। मुझे सोचना पड़ता है। वैसे भी मैं सोच-विचार कर बोलने की आदी हूं।" कहकर रमा खिलखिलाकर हंस दी।

पर सुधीर गम्भीर था, उसने बात टूटने नहीं दी, "क्या कह रही थी ?"

रमा को खुद को समेटने में देर लगी। फिर धीरे-धीरे बोली, "कोई खास बात नहीं। मैं कह रही थी कि तुम्हें तस्वीर उतर जाने पर दीवार को फिर कोरा करना नहीं आता। और तस्वीर लाकर दीवार पर न टांगो यह भी तुम्हारे बस का नहीं है। दरअसल सम्बन्ध सदा अस्थायी होते हैं और तुम्हें इस शब्द से... मैं तुम्हारे मन से डरती हूं। और मुझे कोई डर नहीं है, कोई चिन्ता नहीं है।"

सुनते-सुनते सुधीर का मन उखड़ गया। जल्दी-जल्दी उसने खाना

खत्म किया और यह कहकर कि 'जरा घूमकर आता हूं वह घर से बाहर निकल गया।

५

जिस कालोनी में सुधीर रहता है उसकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है। दिल्ली के पूर्वी क्षेत्र का यह आखिरी सिरा है। कालोनी के पीछे एक पोश कालोनी है। बाईं तरफ़ रेल की पटरी पार करते ही छोटे उद्योगों की लम्बी क़तार है, जिसमें हजारों आदमी-औरतें-बच्चे कम-से-कम तनख्वाह पर अधिक-से-अधिक काम करते हुए पाए जाते हैं। दाईं तरफ छोटे अपराधियों की बस्ती है, जिसमें कच्ची शराब खींचनेवालों से लेकर, चोरी बटमारी के अनुभवी मुजरिम तक रहते हैं। कालोनी के ठीक सामने एक विशाल मैदान है जिसमें क्वार्टरों की ही तरह कीकर के छोटे-छोटे आदमक़द पेड़ खड़े हैं। इस मैदान के अनेकानेक उपयोग हैं। रात के बारह बजे से सुबह के आठ बजे तक इस मैदान में बहुत चहल-पहल रहती है।

सुधीर बाहर निकला तो बाहर खूब अंधेरा छा चुका था। आसमान में बादल थे। ठंडी हवा चल रही थी। मौसम बहुत ही अच्छा था। दिन भर के थके-मांदे लोग खा-पीकर सड़क पर घूम रहे थे। पान की दूकानों पर औरत से राजनीति तक जबड़ों में घुमाते लोग तैश खा-खा कर अपनी बात सही सिद्ध करने के चक्कर में थे। काफी लोग कच्ची सूंघ चुके थे। बात करने के उनके लहज़े में बनावटीपन कम था। मौसम का खुशनुमा होना उनकी अभिव्यक्ति को आक्रामकता दे रहा था जो राजनीति पर से फिसल कर औरत पर जमकर बैठने की मजबूरी पैदा कर रहा था।

सुधीर बाहर निकला तो उसका मन खराब था। पर चारों तरफ

फैली रंग-विरंगी दुनिया ने उसका मन हल्का कर दिया। जी हुआ वह भी पान की किसी दुकान पर खड़ा हो, हंसे, ठहाके लगाए। कालोनी के सभी लोग उसे जानते हैं, पर जिस तरह के लोग यहां रहते है, उनकी वातों में देर तक रस लेना उसके वस की वात नहीं है, पर एक दफा हंसकर जल्दी उनके चंगुल से निकलना भी उतना आसान नहीं होता। फिर भी एक पान की दुकान पर खड़ी भीड़ में सुधीर घुस गया।

पर घुसकर उसे पता चला कि वह वहुत गलत जगह फंस गया है।

वहां वीच में न राजनीति थी, न फिल्म और न मैनेजमेंट। मैनेजमेंट मजदूरों का प्रिय विषय होता है। पर जो विषय उस भीड़ में था वह कालोनी के लोगों के लिए सवसे प्रिय था। और इस समय भी वे उसी का मजा ले रहे थे। ठहाके-चुटकियां-गालियां एक दूसरे पर उछाल कर वह खुशी को सामूहिक वना रहे थे।

वात दरअसल यह थी कि कालोनी के उत्तरी विस्तार के वीचों-वीच एक पुलिया है। ऊपर से रेल और नीचे से आदमी गुजरते हैं, इस पुलिया के नीचे एक जवान पगली अपने ताम-झाम के साथ पड़ी रहती है। वैसे वह वहुत कम वोलती है पर उसका कोई प्रशंसक उसे भर-मन कच्ची पिला देता है तो कहते हैं उस पर देवी आती है और उस समय वह सिर्फ सच वोलती है, सच के सिवा कुछ नहीं वोलती। सच वह कभी पूरा नहीं वोलती। टुकड़ा-टुकड़ा सच उसके मुंह से चूता है और उसमें से पूरा सच चुनना पड़ता है। अभी-अभी चटर्जी का जो वारह साल का लड़का रेल के नीचे कट कर मरा था उसे उसने मरने से दो दिन पहले ही वताया था —"पटरी से दूर···पटरी से दूर···नेता वन जाएगा···नेता··· हा-हा-हा, ···नहीं था···नेता···नहीं था···हा-हा-हा।" उस समय कोई पगली की भविष्यवाणी का अर्थ नहीं समझा पर दुर्घटना के अगले दिन सवको पगली के फुटकर शब्द याद आए और हरेक ने उसके उन टूटे-फूटे वाक्यों के अलग-अलग अर्थ लगाए। जिसमें से कुछ दार्शनिक थे और कुछ शुद्ध राजनीतिक।

कालोनी के लोगों ने इस पगली का नाम प्यार से 'सव की भाभी' रखा हुआ था।

उस भीड़ में उस वक्त सबकी भाभी ही थी। और उसके मुंह से टुकड़ा-टुकड़ा सच चू रहा था।

वह बोल रही थी—सिर झुकाए, आंखें कभी-कभी खोलती, और बेहद उदास स्वर में—"डूब गया···एक आदमी में दूसरा आदमी डूब गया···क़लई खुल गयी···राम-राम···पुलिया-पुलिया···चोर-चोर···सिपाही-सिपाही···चोर-सिपाही, चोर-सिपाही···"

अचानक भीड़ में से एक ने टोक दिया, "ओ भाभी, क्या चोर-सिपाही, चोर-सिपाही लगा रखी है। कोई अच्छी-सी बात सुना यहां की। देख, ये सुधीर बाबू आए हैं, तेरी बात सुनने।"

पगली चुप हो गई। उसने अपने चेहरे को धीरे-धीरे सुधीर के ठीक सामने किया। पलकों को हल्के-से उठाया, सुधीर को देखा और खिलखिला कर हंस दी। बहुत देर तक हंसती रही। फिर अचानक चुप होकर बोली, "कालोनी का सबसे बड़ा पागल ?"

कहकर वह फिर गर्दन चक्रावर्त्त में घुमा-घुमाकर हंसने लगी और साथ ही भीड़ ने एक सम्मिलित ठहाका लगा दिया। सुधीर की हालत खराब हो गई। वह भीड़ से निकलकर भागना चाहने लगा। पर वह जानता था कि कोई उसे बाहर नहीं जाने देगा। मजदूरों की भीड़ एक ऐसा ही चक्र-व्यूह होती है जिसमें घुसा जितनी आसानी से जा सकता है निकला नहीं जा सकता। सकपकाया-सा सुधीर खड़ा रहा और फिर खुद को ढीला छोड़ने के लिए वह एक खिसियानी हंसी हंस दिया। पर भीड़ के ही एक और आदमी के एक सवाल ने सुधीर की नसों पर से सारे तनाव को छील दिया। वह खुलकर हंसने लगा। उस आदमी ने उस पगली से पूछा, "क्या बोलती है भाभी, सुधीर बाबू को पागल कहती है। सुधीर बाबू बहुत होशियार आदमी है।"

ऐसी बात नहीं है कि सुधीर अपनी इस तारीफ़ से खुश हुआ था। पर चलती बात चलते पानी की तरह खुशनुमा होती है। बात शुरू होकर वहीं डूब जाए तो बस जोहड़ खोद देती है।

पगली ने बेहद गम्भीर-भाव से उस आदमी की बात का जवाब दिया, "अरे, पागल है तो क्या हुआ, वहां, मेरे पास रहेगा।"

सुनकर सबने फिर ताली पीट दी।

इस बार सुधीर बिल्कुल उखड़ गया। तेजी से सबके रोकते-रोकते वह बाहर खिसक चला। पगली ने भीड़ और सुधीर की धींगामुश्ती देखी तो ताली पीट-पीट कर गाने लगी, 'जाने दो···आएगा, जाने दो···आएगा ···जाने दो···'

और सुधीर का पिंड तभी छूटा जब पगली ने खड़े होकर ठुमका दे-देकर नाचना शुरू कर दिया।

"जाने दो···आएगा, रे ए-ए-ए जाने दो···आएगा!"

दूर जाते सुधीर के कानों में भी यह कसैला सुर पड़ता रहा। उसका सारा शरीर खौलने लगा। उसे मालूम था कि उस पगली के बारे में कैसी-कैसी कहानियां प्रसिद्ध थीं। कोई कहता—यह पागल नहीं है, पुलिस ने इसे यहां बैठा रखा है। तो कोई कहता कि यह कालोनी में रहनेवाले स्मगलरों की साथिन है। कोई कुछ कहता तो कोई कुछ। पर इतना सुधीर निश्चय से जानता था कि कालोनी के बहुत से लोग पगली का 'सही' इस्तेमाल करने से नहीं चूकते। उसने रात-बिरात लौटते हुए कई दफा बहुत कुछ देखा है। आज अचानक इस मूर्ख ने कालोनी वालों की नज़रों में उसे भी उन लोगों की क़तार में खड़ा कर दिया। सुधीर का मन एकदम फट कर रह गया। वह घर से मन हल्का करने बाहर निकला था। संज्ञा के सूट की चिन्ता थी पर इस समय तो सीधा जाकर सोना चाहने लगा। रात भी काफी हो गयी थी। आज का दिन शायद···

घर पहुंचकर पाया कि चटर्जी उसका इन्तजार कर रहा है। सुधीर को मालूम था कि जिस दिन उसके लड़के की मौत हुई वह घर पर नहीं था। उसी दिन क्यों, कई दिन से घर से गायब था। बच्चे की लाश पड़ोसियों ने चन्दा देकर फूंकी थी। चन्दा देने की बाध्यता के कारण बच्चे की मौत का ग़म आधा हो गया था। कुछ लोगों ने चटर्जी को गालियां देकर ही अपना कर्त्तव्य समाप्त समझ लिया था और कुछ लोगों के कर्त्तव्य की सीमा चटर्जी की बहू को सलाह और उसमें स्त्रियोचित गुणों के अभाव का विशद विवेचन थी। दरअसल इसमें कुसूर चटर्जी का भी नहीं था। उसका खयाल था कि उसमें एक बड़े पेन्टर के तमाम गुण विद्यमान हैं और आज

तक पेशे से वह लाइनो-आपरेटर था। उसके अन्दर का चित्रकार उसे इधर-उधर प्रेप-पींग बढ़ाने को उकसाता तो गर्दन पर बैठा लाइनो-आपरेटर उसकी गुद्दी पर लात-घूंसे बरसाता। स्याह रंग का मरगिल्ला-सा चटर्जी क़द में बहुत छोटा था। पर ज़ुबान उसकी बहुत तेज़ थी। सुधीर ने उसे घर में बैठा देखा तो फुंक गया। बोला, "कहिए!"

"सुधीर बाबू आपको हमारा मदद करना पड़ेगा।"

सुधीर पहले ही जला बैठा था, वितृष्णा से बोला, "क्यों करनी पड़ेगी?"

पर चटर्जी अपनी धुन में था, "आप हमारा बात तो सुनिए!"

"क्यों सुनूं मैं आपकी बात? और आपको मालूम है इस समय क्या बजा है?"

चटर्जी ने फिर कहा, "पर आप सुधीर बाबू हमारा बात तो सुनिए।"

और सुधीर कुछ कहने ही जा रहा था कि रमा ने टोक दिया, "तुम भी अजीब आदमी हो। बात सुनने में क्या हर्ज है?"

सुधीर भभक उठा, बोला, "तुम्हें मालूम है मैं चटर्जी को कब से जानता हूं?"

"ये वक्त उन बातों को करने का है? कितनी बड़ी घटना घटी है बेचारों के साथ और तुम पिछली बातें बतलाने बैठे हो। सुन लो, क्या कह रहे हैं।"

सुधीर अनमना था, पर बोला, "सुनाओ।"

चटर्जी को सांस आया। उसने लाइन पर गाड़ी चढ़ती देखी तो अन्धा-धुन्ध कोयला झोंक दिया। धाराप्रवाह बोला, "वही तो सुधीर बाबू, हमारा बात तो सुनिए। तुम तो जानता है, हम को पेंटिंग का शौक है। तुम तो जानता है, मनमाफ़क काम में जो मज़ा है, और काम में कहां। ये साला दिल्ली है, अपना देश होता तो लोग पैर धो-धोकर पीता। तुम तो खुद लेखक है, सब जानता है, आर्टिस्ट है, कलाकार है।"

सुधीर का धैर्य दम तोड़ रहा था। उसने ललकारा, "चटर्जी!"

"हां सुधीर बाबू!"

"काम की बात करो!"

"हां, सुधीर बाबू वही तो। हम चाहता है, इस कालोनी के लोगों पर मुक़दमा करें। पुलिस में रपट कराएं।"

"क्यों ? लोगों ने क्या किया है ?"

"इन्होंने हमारा बच्चा रेल के नीचे धकेल दिया।···मार डाला।"

कहते-कहते चटर्जी की आवाज़ में कुछ ऐसी व्यथा गूंजी कि सुधीर और रमा दोनों जड़ तक हिल गए। बच्चे सब सो चुके थे। दोनों की समझ में नहीं आया कि क्या कहें। पर चटर्जी अब भर आया था। उसी गूंजती आवाज़ में बोल रहा था, "हां, हमारा ही दोष है। सब कहते हैं हमारे ही कारण घर बरबाद हो गया। होता है तो हो जाने दो। हम तो अब वही करेगा जो मनमाफ़िक होगा। कितना साल हो गया लाइनो पर बैठकर टिकटिक करते। कभी छुट्टी नहीं, कहीं घूमना नहीं। दो रुपया हुआ तो सनीमा देख लिया। सौ रुपया इकट्ठा कभी नहीं हुआ कि बच्चों को हरद्वार घुमा लाएं। सुधीर बाबू, यही वह लड़की है जिससे मैं उन दिनों प्रेम करता था, जब आपके साथ काम करता था। पन्द्रह साल पहले···आज जी करता है इसे लात मार कर घर से भगा दूं···कोई सुख नहीं, कोई मनोरंजन नहीं। बस, सनीमा देख लो, साला, दूसरे का मिथुन, या दारू, साली कच्ची···"

सुधीर ने बहुत कोमल स्वर में टोका, "चटर्जी, चाय पियोगे ?"

चटर्जी की आंखों में चमक आ गई। बोला, "पिऊंगा सुधीर बाबू, और कुछ खाने को हो तो वह भी दीजिए। कई दिनों से कुछ नहीं खाया···और भाभी जी, आप जरा उस को समझाइये ना, न खाने से वह लौट थोड़े ही आएगा···आप, कल, ज़रा···"

अचानक चटर्जी चुप हो गया। कुछ मिनट एकदम सुन्न पथरीला मुंह लिए बैठा रहा फिर एक झटके से उठा और बिना कुछ कहे कमरे से बाहर हो गया। सुधीर चुप बैठा देखता रहा। उसने चटर्जी को रोकने की कोई कोशिश नहीं की। वह जान गया था—चटर्जी रोना चाहता है। रो लेगा तो हल्का हो जाएगा। भूख-प्यास भी तभी उसे ठीक से लगेगी। रमा चटर्जी के 'हां' कहते ही चाय बनाने अन्दर चली गई थी। स्टोव के भभकने की आवाज़ आ रही थी। सुधीर ने आवाज़ देकर रमा को सूचना दी,

"रमा, चटर्जी चला गया। रहने दो।"

रमा बाहर आई, "चले गए ?"

"हां।"

"क्यों ?"

"मुझे क्या पता ? उठा और चला गया।"

"तुम पिओगे चाय ?"

"नहीं, और अब मेहरबानी करके सो जाओ।" कहकर वह बिना कपड़े बदले ही अपने बिस्तरे में पसर गया।

६

सुधीर ने बिस्तरे में लेटकर आंखें मूंद लीं। उसे पता भी नहीं चला कब रमा ने बत्ती बन्द की और कब वह लेट गई।

पर यह उसे साफ महसूस हुआ कि नींद दूर तक कहीं नहीं है। उसके चारों तरफ बेहद भीड़भाड़, बेहद ऊहापोह है। अंधेरे में उभरती-डूबती आकृतियें उसे उद्वेलित कर रही हैं।

बाहर की बत्ती बुझ जाए और अन्दर का अबरक टूटा पड़ा हो तो पता नहीं कहां की रोशनी के अबरक पर पड़ते 'रिफ्लैक्शन' मात्र से अन्दर का कमरा जगमगा उठता है। सुधीर के कमरे में भी इस समय अबरकी रोशनी पिघल कर बह रही है। कमरा सजा-धजा है। सांवली रोशनी में उन्नावी कालीन महक रहा है। कालीन के चारों कोनों को चार कोच मुट्ठियों में भींचे बैठे हैं। कमरे की दिशाओं के विस्तार और कालीन की गहराई का अनुपात न बिगड़ जाए। दरवाज़े से गुलमोहर और नागचम्पा झांक-झांक कर हंस रहे हैं। चटक हरे पत्ते गहरे हरे दीख रहे हैं। कमरे में कहीं कोई

बल्ब नहीं जल रहा फिर भी खूब सारी रोशनी झिलमिला रही है। बहती रोशनी।

कमरे में कोई नहीं है।

कमरे में कोई न हो तो कमरा रात का आकाश बन जाता है। अपने प्रभाव में रोशनी चाहे जितनी क्यों न हो।

···एक कोच पर कोई उभरा है···

···प्रतिभा है···

यह प्रतिभा है ?

नहीं, यह प्रतिभा नहीं हो सकती।

प्रतिभा इतनी सांवली कहां है। उसका मोतिया रंग ···

ओह ! यह उसके कमरे में है न। कमरे की रोशनी का रंग कमरे में बैठे आदमी के रंग को बदल देता है···

···तो यह प्रतिभा ही है···

···उदास, चुप, सुन्न बैठी है। चेहरे पर कैसा करुणाजन्य लसीलापन है···

···क्या हो गया इसे···सुधीर सोच रहा है···

···सुधीर कमरे में नहीं है···

अचानक सब गड्डमड्ड हो गया···

कालीन गायब। कोच गायब। गुलमोहर, नागचम्पा गायब। प्रतिभा भी गायब। नंगा कमरा।

नंगे कमरे के नंगे फर्श पर घूमते कत्थई रंग के सलौने बालकों जैसे काक्रोच ! आंख-मिचौनी खेल रहे हैं। कोने में जाकर छिप जाता है, कोई एक। सब उसे ढूंढ़ते फिर रहे हैं।···वह कोने में बैठा रहता है। कोई उसे ढूंढ़ नहीं पाता। शायद खुद ही ऊब कर कमरे के बीचों-बीच आ गया है। चारों तरफ से और काक्रोच खुश होकर उस पर हमला करते हैं।···सब मिलकर नाच रहे हैं···

अरे ! ···यह क्या हुआ ?

यह कमरे के बीचोंबीच नंगे फर्श पर सुधीर कहां से आ गया ··· सुधीर नहीं, सुधीर का शव···कितना सपाट पड़ा है···काक्रोच चारों तरफ

नाच रहे है।···उसे सब दीख रहा है···

सुधीर का शव कितना सपाट पड़ा है···काक्रोच कैसे ताल में नाच रहे हैं···

तभी कमरे में चटर्जी अवतरित हुआ है···उसने चटकीले रंग का कुर्ता और बेहद झीनी धोती बंगाली ढ़ंग से बांध रखी है। आधा मिनट वह अतिनाटकीय ढ़ंग से कमरे के दृश्य को अलग-अलग कोण से परखता है··· फिर अचानक उसके चेहरे पर विक्षिप्त आक्रोश उभरता है और वह कूद-कूद कर काक्रोचों को पैरों से कुचलना शुरू कर देता है। चटर्जी का काला रंग आबनूसी काला हो उठा है···उसकी भाव भंगिमाएं ताण्डव-नृत्य की झलक दे रही हैं।···काक्रोच भी कमरे के वातावरण के अमूर्त्त, निस्वर संगीत के लय-ताल पर उछल-कूद रहे हैं···

खट् की एक आवाज़ के साथ फिर दृश्य बदल जाता है···कोच, कालीन, गुलमोहर-नागचम्पा, यथापूर्व अपनी-अपनी जगह उभर आए हैं···

प्रतिभा भी एक दूसरी कोच में आ गई···अब उसकी दृष्टि गुलमोहर-नागचम्पा की तरफ नहीं है···उस तरफ उसकी पीठ है···वह कमरे की एक दीवार की तरफ देख रही है···दीवार पर एक विशाल कोरा कनवास टंगा है···कोरा···

प्रतिभा टक लगाकर कनवास को देख रही है···

उसके शरीर का रंग सहज मोतिया है···

सुधीर ने कमरे के बाहर से देखा है···प्रतिभा के सारे शरीर का रंग मोतिया है···

वह उन्नावी शनील में बैठी दीख रही है···कोरे कनवास पर दृष्टि टिकाए···

···सुधीर सोच रहा है···काक्रोच, चटर्जी, सुधीर का शव अचानक कहां गायब हो गए···

···वह दृश्य डरा नहीं रहा था···यह दृश्य···

हड़बड़ाकर सुधीर जाग गया है।···

बहुत दिनों बाद उसे कोई सपना दीखा है। उसे सपने दीखने बन्द हो गये थे। सपने में डरने जैसी कोई बात नहीं थी। फिर भी सुधीर को लग रहा था, उसकी पसलियों के नीचे डर घुड़दौड़ मचा रहा है। उसने महसूस किया कि उसके सिर में कुछ रेंग रहा है और सनसनाहट पैदा कर रहा है, जो कनपटियों तक आ रही है। उसने सोचा—सिर में कहीं काक्रोच तो नहीं घुस गया ? सोचकर उसे हंसी आई और साथ ही मन हल्का हुआ। फिर भी अँधेरा उससे सहन नहीं हुआ। वह उठा और उठकर उसने बत्ती जला दी। रोशनी के फैलते ही फर्श पर घूमते काक्रोच भाग-भाग कर छुपने की जगह तलाश करने लगे। सुधीर को याद आया—बरसात में तो इन लोगों की आमद होती ही है। रमा और छोटे बच्चे—समीर और संदीप—बाहर खुले में सो रहे हैं। इन क्वार्टरों में नीचे वाले बाहर और ऊपरवाले छत पर सोते हैं। पर सुधीर कभी बाहर नहीं सोता। बाहर सोना उसे बहुत अशिष्ट काम लगता है। वैसे भी बाहर मच्छर बहुत होते हैं। क्वार्टर के बिल्कुल पास से एक नाला बहता है। और सामने के मैदान से भी मच्छर घूमने-फिरने आते हैं। उसे फिर एक बहुत मज़ेदार बात याद आई और इस बार वह ठहाका मारकर हंस दिया। बहुत दिनों बाद एक बार जब वह उस गांव में गया था जहां बचपन में रहता था तो उसकी एक सहेली ने कहा था—अरे सुधीर, मैं तेरे शहर में आऊँ तो तू मुझे शहर घुमा देगा ना ? सुधीर ने कहा था—'हां'।

और उसने कहा था, "ना बाबा, कौन जाए इन बड़े शहरों में, सुना है, बिल्कुल भूलभुलैया होते हैं। एक बार खो जाए तो मिलना मुश्किल, ठीक बात है यह ?"

ठीक तो है ही। सुधीर ने सोचा। और ये मच्छर साले अपने कीकर के जंगल से यह शहर देखने क्यों आते हैं ? यहाँ दीवारों में फंस जाते हैं तो रहनेवालों को काटते हैं।

कितना चुभता है इनका डंक !

हां, डंक तो किसी का भी हो, चुभता ही है।

डंक ? किसका ?···किसी का नहीं···

कोई चुभन स्वाद लगती है···और कोई···

पर यह साला सपना आज कहां से आ गया ! ?

सुधीर ने वत्ती खुली छोड़ दी और आकर अपने विस्तरे पर बैठ गया। नज़र उठाकर उसने देखा—संज्ञा पलंग पर निश्चेष्ट लेटी है। इस समय उसका चेहरा वहुत ही सलौना लग रहा है। चेहरे पर उत्तेजना न हो तो कितना सलौना लगता है···पर कुछ चेहरे तो उत्तेजना में ही सुन्दर लगते हैं।···हां, यह तो है···

सुधीर का विस्तरा ज़मीन पर ही लगता है···विस्तरा···!

सुधीर फिर हंस पड़ा है···

पर यह सपना आज क़ैसे आ गया ?

और इस सपने का मतलव क्या था ?

कल संज्ञा के सूट का प्रवन्ध करना है···करना ही है···

प्रतिभा के शरीर का रंग कैसा मोतिया है···हरी-नीली शेड़ देता है···एकदम न्योन लाइट से वना शरीर—एव्स्ट्रैक्ट···इथीरियल···

···छूना नहीं चाहिए···छूआ ही नहीं जा सकता···

संज्ञा के सूट का प्रवन्ध तो होना ही चाहिए···वहुत होनहार लड़की है—एकदम विज़नरी—कल्पना-विहारी···

पर क्या संज्ञा के स्वप्न, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं पूरी होंगी ?

कितना दीर्घकाय प्रश्न-चिन्ह है !

अपने हिसाव से सुधीर लेखक है। कुछ कहानियां और कुछ कविताएं उसने लिखी भी हैं। उनमें से कुछ छोटी-वड़ी पत्रिकाओं में छपी भी हैं। जैसा कि हरेक लेखक के साथ होता है, एक या दो रचना छपते ही वह खुद को लेखक कहने लगता है और लेखक महान तो होता ही है। इसमें इससे क्या लेना-देना कि किसी की एक चीज़ छपी है या दस। वह अच्छी थी या बुरी—लेखक लेखक होता है। चीज़ कैसे छपी यह भी कम महत्त्व की वात है और यह तो और भी मामूली वात है कि किस रचना की किसने

रचना महान हो गई और तारीफ़ नहीं हुई तो रचना और भी महान हो गई, क्योंकि उसकी तारीफ़ इसलिए नहीं हुई कि वह सही मायनों में क्रान्तिकारी रचना है।

तो सुधीर लेखक है और अपने चारों तरफ सम्मानित भ्रान्तियों का एक वातावरण बनाए रखना चाहता है जो उसके 'इमेज' को व्यापकता प्रदान करे और अहं को तुष्ट करे। इस तथ्य को कि सुधीर जिन भ्रान्तियों के वातावरण को अपने चारों तरफ बुनना चाहता है, वह औरों से अलग है, उसके चारों तरफ फैले लोगों में कोई भी समझने को तैयार नहीं है।

पर कुछ साल पहले तक सुधीर का लेखक काफी सीमा तक उसके अन्दर ही बन्द था और वह एक सीधे-सादे इन्सान की तरह एक प्रकाशन संस्थान में प्रूफ-रीडर के तौर पर काम करता था। लेखक अन्दर कुलबुलाता, बाहरी व्यवहार को प्रभावित करता, कभी-कभी लोगों से झगड़े भी कराता पर सुधीर मानता था कि लेखक होने में और लेखक माने जाने के बीच बहुत बड़ी खाई है और वह उस खाई को पूरने में असमर्थ है, उसमें वह होशियारी नहीं है। इसलिए वह काम करता। बड़े लेखकों की किताबों के प्रूफ पढ़ता, उन किताबों की और उनके लेखकों की खिल्ली उड़ाता, 'फ़्रस्ट्रेटड' आदमी कहलाता और मस्त रहता। ऐसा नहीं था कि घर उस समय वह बहुत अच्छी तरह चला रहा था, नौकरी के अलावा बाहर का काम करने पर भी उसे सिर्फ इतना ही मिल पाता कि दो वक्त रोटी मिल जाए और कम से कम कीमत वाली कामचलाऊ शिक्षा बच्चों को मिलती रहे। कपड़ों का नम्बर तब भी कभी-कभाक ही आता। बीच-बीच में किसी एक इतवार को वह अपनी कहानियां और कविताएं धूल-अटी फाइलों में से निकालता, उन्हें पढ़ता और रमा से कहता, "लिखा तो हमने बढ़िया है। किसी दिन हमारे ये कागज़ तुम्हें पैसा देंगे।"

रमा पति की इस व्यथा को समझती थी पर इसमें उकसाने के खतरों से भी वाकिफ़ थी। इसलिए सान्त्वना देती हुई कहती, "पैसा ही क्यों, तुम्हें यश भी मिलेगा। वक्त आता है, तो सब कुछ हो जाता है। आदमी को वक़्त का इन्तज़ार करना चाहिए।"

सुधीर हंस पड़ता। पत्नी के चतुर वाक्य-विन्यास का अर्थ वह भी

समझता था पर जानता था कि पत्नी की सोच में संतुलन, जो कभी-कभी जड़ता लगता है, कहां से और क्यों आया है। रमा को दोष देने का उसके पास कोई वहाना नहीं है। फिर जब वह खुद ही मान चुका है कि लेखन एक ऐसा व्यवसाय है जो सम्मान सिर्फ तभी देता है जब सम्मानित व्यक्ति पर पतरी की तरह चढ़ा हो। इस समाज में साहित्य की सुगन्ध साहित्य में न होकर साहित्यकार की सामाजिक स्थिति में है। वह अपने पास है नहीं तो फिर क्यों लोभ करके दलदल में धंसा जाए। फिर भी सुधीर के वहुत से लेखक दोस्त थे जिनमें उठ-बैठ कर वह जैसे-तैसे लेखकों की सूची को नीचे के सिरे से पकड़े लटका रहता और वदन पर रेंगते कनखजूरों को इस स्थिति के सहारे सहन करता रहता।

धुंध-चित्रों की तरह ये ही सब बातें विस्तरे पर लेटे सुधीर के चित्त पर तैर रही थीं। वत्ती जली थी। दीखा सपना भी इन्हीं सब में घुलमिल कर चित्त को और धुंधला कर रहा था। प्रतिभा कभी दीखती, कभी गायव हो जाती। चटर्जी के ताण्डव की गति वढ़ती-घटती। काक्रोच छिपने की कोशिश की जगह अब चटर्जी को झिकाने और उसमें मज़ा लेने लगे हैं। गुलमोहर और नागचम्पा चटर्जी के नृत्य को सांस्कृतिक कार्यक्रम की तरह देख रहे हैं और सिर हिला-हिला कर तारीफ़ कर रहे हैं। प्रतिभा का चेहरा कभी जड़, कभी द्रवित और कभी विक्षिप्त होने की भंगिमाएं दे रहा है···

प्रतिभा का चेहरा···न्योन लाइट से वना चेहरा···

वत्ती जल रही है···

संज्ञा शान्त, निश्चेष्ट सो रही है···

सुधीर सो गया है···पर वोल रहा है···संज्ञा का सूट कल जरूर सिलवाना है···

७

इस कालोनी का वाहरी भूगोल ही विशिष्ट नहीं है, इसकी आन्तरिक संरचना भी काफी संकुल है। हर प्रान्त का आदमी यहां रहता है, हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सब धर्मों के परिवार यहां मिलेंगे। हिन्दुओं की हर जाति अपनी-अपनी ध्वजा के नीचे एकत्रित होते हैं और दूसरी जाति को छोटा सिद्ध करने की प्रेरणा उस ईश्वर से प्राप्त करते हैं। कोई राजनीतिक दल ऐसा नहीं है जिसका प्रतिनिधित्व यहां के निवासी कम अविक संख्या में न करते हों। यहां अलग-अलग तरह की छोटी-बड़ी फैक्टरियों के मजदूर और बाबू रहते हैं और अपनी-अपनी फैक्टरी के बड़प्पन या छोटेपन का भार अपने कन्धों पर ढोते हुए जीते हैं। सम्मान या असम्मान के इतने सारे मानदण्डों को यदि कोई एक मानदण्ड खुले मैदान में मात देता है तो वह है कि किस के पास अधिक पैसा है। या यों कहो कि कौन अधिक पैसा बचा सकता है। किसके घर टी. वी. है, किसके घर रेडियो या किसके घर ट्रांजिस्टर ? कौन कैसे कपड़े पहनता है ? कौन है जिसको महीने में उधार मांगने की जरूरत पड़ती है, किसे नहीं ? उधार मांगना, सर्वसम्मति से मानव-मात्र का सबसे निकृष्ट कार्य माना जाता है। फिर भी कालोनी में रहनेवाले अधिकांश लोग किसी न किसी के कर्ज़ के नीचे दबे हैं। कालोनी के बहुत-से लोग जो पीछे से खान्दानी हैं महाजनी का व्यापार करते हैं। इन लोगों से या कालोनी के चार-पांच दुकानदारों से हर क्वार्टर के गृहपति का मूल-चरित्र जाना जा सकता है।

ये क्वार्टर सरकार की तरफ से उन कर्मचारियों को दिए गए हैं जो रजिस्टर्ड फैक्टरियों में काम करते हैं, फैक्टरी की गारंटी पर, और जो

फैक्टरी ऐक्ट की परिभाषा के अनुसार फैक्टरी कर्मचारी की श्रेणी में आते हैं।

सुधीर को यह क्वार्टर तब मिला था जब वह उस प्रकाशन संस्थान में प्रूफरीडर था। वहां से नौकरी छोड़े उसे दो साल हो चुके हैं।

क़ानूनन सुधीर को यह क्वार्टर अब खाली कर देना चाहिए। सुधीर की तो कोई बहुत अधिक आस्था क़ानून में नहीं है पर सरकार तो चलती ही क़ानून के आधार पर है, इसलिए सुधीर को अच्छा नागरिक बनाने के लिए, उसे क़ानून के तहत लाने के लिए सरकार ने उस पर मुक़दमा कर रखा है कि मकान खाली करो। पर सुधीर छोड़कर जाए कहां? इसलिए वह भी सरकार से भिड़ गया है। मुक़दमा जब तक चलता रहेगा तब तक तो पड़ा रहेगा। कचहरियों में फैला भ्रष्टाचार कभी-कभी कितना न्याय-संगत होता है इसका सुखद अनुभव सुधीर को इस मुक़दमे के दौरान ही हुआ। फिर उसका खयाल यह भी है कि मुक़दमा लड़कर वह सरकारी न्याय को व्यापक मानवीय मंच दे रहा है। तीसरे यह कि मुक़दमे का तनाव उसे और कई तनावों से मुक्ति दिला रहा है। घर के लोग भी अपनी मांगें आगे खिसकाने से कतराते हैं। रमा कहती—देखते नहीं हो, कैसा मुक़दमा चल रहा है, कितना पैसा बह रहा है। समीर और संदीप तो खैर कुछ नहीं समझते पर संज्ञा कभी-कभी विद्रोह कर उठती, कहती, "हम क्या करें। क्यों छोड़ी नौकरी पापा ने? उस समय सोचना चाहिए था कि नौकरी छोड़ते ही क्वार्टर भी छोड़ना पड़ेगा। अब हर समय मुक़दमा-मुक़दमा करके हमारी ज़ुबान बन्द करना चाहते हैं।"

रमा हंसकर पति से कहती, "देख लो, मैंने कभी तुम्हारी इस तरह टीका नहीं की। और चढ़ाओ लड़की को सिर पर। क्या पटर-पटर ज़ुबान चलाती है।"

सुधीर भी हंस पड़ता, कहता, "बात तो ठीक ही कह रही है। तुम हर बात में मुक़दमे का जिक्र करती ही क्यों हो?"

"लो, यह कसूर भी मेरा ही हो गया।"

"मेरा मतलब है कि मुक़दमा नहीं था तभी कौन घर में दूध की नदी बह रही थी और जब नौकरी थी तब भी पैसा रखकर भूलने की सुविधा

नहीं थी तुम्हें। फिर इस शब्द के खोल में घुसकर कोई अतिरिक्त सुरक्षा मिलती है क्या। मत कहा करो, बच्चों के दिमाग पर बुरा असर पड़ता है।"

"तो क्या कहा करूं?"

"नहीं है, बस।"

"और वह मान जाएगी। जानते नहीं हो, कैसी भैरवी है।"

"भैरवी नहीं, उसका नाम संज्ञा है। बेहद सचेत लड़की है।"

"हां, तुम्हारी तरह।"

"वह तो है ही। लड़की बिल्कुल मुझपर गई है।"

"मैंने कब कहा, तुम पर नहीं गई।…भगवान मालिक है इस घर का।" कहकर रमा हंस पड़ती।

रात भर की मानसिक ऊहापोह ने सुधीर का मन बहुत भारी कर दिया था। उठते ही याद आया कि आज संज्ञा के सूट का कपड़ा खरीदना है और कल मुक़दमे की तारीख है। सिल तो खैर सूट घर में ही जाएगा। पर इस समय तो…संज्ञा कैसी निर्द्वन्द्व सो रही है…देर तक सोना उसकी आदत है…

सुधीर ने आदत के अनुसार ऊंचे सुर में पुकारा, "चाऽऽय!"

बिना मुंह-हाथ धोए बिस्तरे में बैठकर एक कप चाय पीने की सुधीर को आदत है। रमा भी जानती है देर हुई तो वह हल्ला मचा देगा, इसलिए उसके उठने के लगभग साथ ही साथ वह चाय लेकर हाजिर हो जाती है। आज भी 'चाय' की आवाज़ के साथ ही साथ वह मंच पर अवतरित हो गई। चाय सुधीर को पकड़ाते हुए बोली, "रात भर क्या बड़बड़ करते रहे? बहुत सपने दीखे रात? और बत्ती इसीलिए जलाकर छोड़ दी थी कि सपना साफ़ दीखे, अंधेरे में…"

सुधीर ने चाय ली, एक घूंट भरा, आंखों को पटपटाया, फिर कहा, "एक वक्त में एक सवाल?"

"मुझे क्या करना है, सवाल करके। मुझे तो डर सिर्फ यह है कि संज्ञा तो तुम पर हंसती ही है, वड़े होकर ये दोनों भी हंसा करेंगे। हंसता कोई तुम पर है और शर्म मुझे आती है। मतलब आंखें ही रात भर भटकाते फिरो, मुंह तो वन्द रखा करो।" कहकर रमा एक मस्त हंसी हंस दी।

सुधीर का मन खराव था। सुबह-सुबह यह पुराण उसे अच्छा नहीं लगा, वोला, "तुम्हें पता है, औरत और तोते में क्या फर्क होता है? मेरा मतलब दोनों के स्वभाव में···"

"पता है, कोई फर्क नहीं होता। फिर?"

"एक ही कहानी, हर समय···"

"कहानी तो इस दुनिया में एक ही है, वाकी तो सव लघुकथाएं हैं। हम लोग···"

सुधीर झींक उठा, "तुम्हें मालूम है, मुझे···"

वेहद तेज़ी से रमा ने वात पूरी की, "साढ़े आठ वजे जाना है। तीन वजे तक मैं आ जाऊंगा। फिर संज्ञा के सूट का कपड़ा लेने वाज़ार चलेंगे। सी तो तुम घर पर लोगी ही···"

"रमा ऽ" सुधीर ने आवाज़ ऊंची की।

"पर मैं सोचती हूं, वारिश-पानी का दिन है, कहां जाओगे आज?"

"तो? क्या करूं?"

"घर में वैठो। आखिर हम भी तो हैं।"

"क्या हो गया आज तुम्हें?"

"रात मैंने भी एक सपना देखा।" कहते-कहते रमा सुधीर के पास ही वैठ गई।

"क्या?"

"पहले तुम अपना सपना सुनाओ।"

"मैंने कोई सपना देखा ही नहीं।"

"छोड़ो, झूठ क्यों वोलते हो?"

"झूठ नहीं, सच।"

"तो वड़वड़ा क्यों रहे थे?"

सुधीर ने पल भर चुप रहकर कहा, "भय और चिन्ता के टुकड़े कभी कभी जुड़कर सपने का भेस भर लेते हैं। ऐसे में मुंह से आवाज़ें निकलती ही हैं। उन आवाज़ों का—"

रमा झटके से उठकर खड़ी हो गई। अन्दर जाते-जाते कहती गई, "अच्छा-अच्छा, अपनी यह मृत्यु-पुराण बन्द करो। मुझे नहीं सुननी। उठ कर निपट लो। मैं तुम्हारे जाने की तैयारी करती हूं। और संज्ञा को उठा दो, जो भी कहना हो उसी से कहकर जाना। समझे। मेरे बस का नहीं है, उससे झक मारना।"

घर की खटर-पटर, बच्चों की चीख-पुकार और रमा के लहकते वाक्यों ने सुधीर के अन्दर की दुनिया को नेपथ्य तक खिसका दिया। पर साढ़े आठ बजे घर से बाहर क़दम रखते ही छोटी-छोटी धारदार चक्रियां तेज़ चाल से घूमकर दिमाग़ की नसों को काटने लगीं। इस समय बारिश नहीं हो रही थी, पर आसमान पर बादल घुटे थे। रात भर भी शायद पानी नहीं बरसा था। इसीलिए पथरीली और गढ़ीली सड़कें कुछ सूखी नज़र आ रही थीं। सुधीर को अच्छा लगा। सिर के ऊपर नमी हो और पैरों के नीचे सूखा, तभी मजा आता है। ऊपर की नमी अगर नीचे कीचड़ कर दे तो मौसम का सारा रोमांस···

पुलिया आ गई। सुधीर ने देखा—पगली हाथ पर रखकर कुछ खा रही है।

सुधीर का सारा आक्रोश अचानक पगली पर केन्द्रित हो गया। रात की बात याद करके। पर इससे पहले कि सुधीर उससे कुछ कहता पगली ने एक सीन खड़ा कर दिया। उसने सुधीर को देखा। हाथ पर रखी रोटी गूदड़ पर रखी। उठकर खड़ी हुई। सुधीर को तब दीखा कि वह सपाट नंगी है। दो क़दम आगे बढ़ी और पेट पर हाथ मारकर गाना शुरू कर दिया—"आएगा, आएगा; आएगा आनेवाला; आएगा···"

सुधीर जुगुप्सा से भर उठा पर पता नहीं क्यों आदत के अनुसार वह भागा नहीं, रुककर खड़ा हो गया।

पगली ने उसकी तरफ देखा। पल भर के लिए वह ठिठकी, कहा, "आओ।"

"क्या है ? रात तूने वह बत्तमीजी क्यों की ? चल, कपड़े पहन।"

पगली ने कहा, "आओ।"

कहकर पगली ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगी। हंसती जाती और कहती जाती, "सड़क पर पड़ी औरत से भी गंदी बात नहीं करता। पागल कहीं का···आओ···दिन क्या और रात क्या···आओ···"

और फिर जिस तरह के इशारे पगली ने करने शुरू किए, सुधीर झेल नहीं पाया। भाग लिया। बस स्टाप की तरफ···उसे कहीं जाना है···जाने कहां···उसका दिमाग़ एकदम ठस्स हो गया है···

पगली···उसकी हंसी की आवाज़···वे इशारे···

वह···पागल···हो जाएगा···

८

जो पहली बस आई, सुधीर उसी में चढ़ गया। दिल्ली की बस। राजधानी का उसूल इस पर सबसे अधिक लागू होता है। जो बस में चढ़ गया वह भरसक कोशिश करेगा कि उसके पीछे का आदमी पायदान पर ही लटका रहे। पर उसूल कुछ भी कहे आदमी ऊपर चढ़ता ही है, सुधीर ऊपर चढ़ गया। अपने हाथ पैर और कपड़े बचाता हुआ। सुधीर की आदत है, बस में सीट खाली न हो तो पीछे खड़े होने की जगह के किसी भी एक कोने में वह दुबक जाता है। ऐसा नहीं है कि वहां उसके हाथ-पैर नहीं कटते पर ज़रा कम कटते हैं और दिल्ली में यह कोई छोटा आश्वासन नहीं है।··· सुधीर ने कोना पकड़ लिया। और चारों तरफ की दुर्गन्ध से बचने के लिए खुद में डूबने की कोशिश करने लगा।

आज उसके पास ख़ुद में डूबने के कई कारण थे।

प्रतिभा घर से निकलते ही उसके दिमाग पर छाने लगती है। घर की बदतर होती हालत उसके शरीर के हर जोड़ पर टेप की तरह चिपकी है। संज्ञा का सूट उसकी नाड़ियों में पिन की तरह वह रहा है। मुक़दमे की तारीख भी कल ही है। देखो क्या होता है।··· आस्मान में बादल बढ़ रहे हैं··· धूप आज भी नहीं निकलेगी···बरसात की धूप बदन को नोचती है···यह बस भी खूब चीज़ है···कैसे भागी जा रही है···पीछे क्या छूट रहा है, कुछ होश ही नहीं है···मशीन है ना···पर आदमी आगे भागता भी है तो उसका व्यतीत उसका ऐसे पीछा करता है जैसे कोई भी मकान-मालिक किसी ऐसे किराएदार के पीछे भागे जिसे वह बांध-जूड़ कर अपने मकान में सिर्फ इसीलिए रखना चाहता हो क्योंकि वह ठीक वक्त पर किराया देता है और शोर-झंझट बिल्कुल नहीं करता। बीते दिनों के कूप में रहना वाक़ई एक अच्छे किरायेदार की तरह, यानी गुप-चुप रहने जैसा ही है। इस तरह रहना सुखद हो न हो, सुरक्षित तो है ही।

घर दूर होता जा रहा है और प्रतिभा का दायरा मन के चारों तरफ फैलता जा रहा है···

यह तो सच है, प्रतिभा का चुम्बकीय क्षेत्र काफी वायवीय है···

पर वायवीय क्या व्यक्तित्व-सापेक्ष नहीं होता···?

होता क्यों नहीं, सिर्फ वही होता है···

प्रतिभा का व्यक्तित्व···

बस में भीड़ बढ़ती जा रही है। कोने में दुबके होने के बावजूद सुधीर के पैर कट रहे हैं, मिनट में दो दफा के रेट से। पर सुधीर आज किसी से उलझने की मूड़ में नहीं है। वैसे अकसर वह छोटी-छोटी बातों पर बड़े झगड़े मोल लेने में समर्थ है। इसमें उसका एक तर्क है कि छोटी बातों में अकेले और बड़ी बातों में सबके साथ मिलकर लड़ना चाहिए। जो लोग छोटी बातों का विरोध नहीं कर सकते वे लोग बड़े मामलों में भी बिना दुविधा के समझौता कर लेते हैं। छोटी बातों पर वे झगड़ा इसलिए

नहीं करते क्योंकि बड़े समझौतों के लिए सामाजिक सम्मान बचाए रखना चाहते हैं। ऐसे बहुत से 'डिग्निफाइड़' लोग उसकी पहचान में हैं जो अपने चेहरे चिकने रखने के लिए बहुत उदार भंगिमा से कहते हैं—छोटी बातों पर सोचना मेरी 'डिग्निटी' के नीचे है। ये ही लोग, इसी चिकनाहट के आधार पर जब बड़ा समझौता करते हैं तो इनका अष्टावक्रीय रूप काफी मनोरंजक लगता है।...सुधीर जिस बस पर सवार है वह सीमापुरी से आ रही है। दिल्ली की सीमा पर बसी यह बस्ती राजधानी की कुरड़ी है। कुरड़ी ! सुधीर को हंसी आने को हुई। कुरड़ी की गन्ध ने उसकी हंसी पर डाट लगा दी। उसे अपने गांव के दिन याद हैं। एक बार एक कुरड़ी खुद रही थी। गांव भर का कूड़ा-करकट, मल-मूत्र, खर-पतवार एक गहरे गढ़े में जमा किया जाता है। कुछ सालों बाद उसे खोदा जाता है और खाद के रूप में अच्छी फसल के लिए खेतों में बिखरा दी जाती है। सीमापुरी दिल्ली के समाज की आदमियों की कुरड़ी है। इसका अपना तर्क है, पर है यह कुरड़ी ही। सम्मानित समाज के गन्दे–घिनौनी, शारीरिक-मानसिक बीमारियों के मरीज़ सीमापुरी के गड्ढे में उछाल कर फेंक दिये जाते हैं... जब खाद की ज़रूरत...

अचानक एक साहब जोर से सुधीर के पैर पर कूद कर चढ़े। न चाहते हुए भी सुधीर के मुंह से 'उफ्' निकल गया। सुधीर ने उनको देखा, गन्दा फटा कमीज, नीचे पाजामा, जिसका एक पाहुंचा एक पैर को ढके हुए और दूसरा घुटनों से नीचे तक चढ़ आया हुआ और शायद और ऊपर चढ़ने की कोशिश में। चप्पल देख सुधीर आश्वस्त हुआ। कमोवेश उसकी बिरादरी के ही हैं। चप्पलें उसके चेहरे की तरह फटी-पुरानी। सुधीर ने उसके कन्धे पर हाथ रखा, फिर निहायत फिसलती आवाज़ में कहा, "क्यों, भाई साहब, पैर के नीचे बिच्छू आ गया था क्या ?"

और उसके जवाब देने के लिए मुंह खोलते ही सुधीर को पता चल गया कि महाराज सुबह-ही-सुबह 'कच्ची' की बोतल चूस आए हैं। कच्ची का भभका बस के उस कोने को महक दे गया। सब के चेहरे पर तृप्त हास्य पसीने की तरह झलका। सुधीर ने सुना, वह कह रहे थे, "बिच्छू आता तो साले को मैं, क्या समझते हो, कुचल कर रख देता, पर वह तो, किसी साले

आदमी का पैर आ गया, और भाई साहब, मुझसे छोटे हो, यानी मेरे छोटे भाई हो, आदमी पर मुझे बहुत रहम आता है, मैं सब कुछ कर सकता हूं पर आदमी साले को मुझसे गाली तक नहीं दी जाती, मारना तो—"

सुधीर ने बात काट दी, पूछा, "आपने सुबह-सुबह शराब पी मारी ?"

इस बार वह गम्भीर हो गया। मिनट भर चुप रहा फिर बोला, "हां बाबू, मार आया, सुबह-सुबह मार आया। शाम की घूंट नींद लाती है और सुबह की घूंट दिन भर चकाचक रखती है। पागल हैं साले जो सिर्फ शाम को, सिर्फ सोने के लिए पीते हैं।···दारू के बाद तो बाबू···समझे ?"

सुधीर विरक्त हो गया था, बोला, "समझ गया।"

"क्या समझे ?"

"दारू के बाद आपका मार खाने को जी करता है।"

"क्या कहा ? फिर से कहना। कौन साला हमको मारेगा ?" शराबी अचानक गले की नसें फुला-फुला कर चीखने लगा। ऊंची सुसंस्कृत गालियां देने लगा। सुधीर कुछ देर सुनता रहा। वितृष्णा से मुंह विकृत रुत रहा। शराबी हाथ फैला-फैला कर कोस रहा था। उसके चारों तरफ बदबू का दायरा बन गया था, जिसमें वह नहाता खड़ा था। इस प्रक्रिया में उसके चारों तरफ के लोग दूर-दूर हट गए थे और शराबी महोदय एक छोटे-से गोल मंच पर खड़े 'मोनोलॉग' अता फरमा रहे थे। उनकी भाषा मिनट-दर-मिनट भदेस और स्वर कर्णकटु होता जा रहा था। बस में बैठी महिलाओं के चेहरे पथरीले हो गए थे। हंसी रोकते-रोकते। सुधीर चुप खड़ा था कि अचानक वह गाली बकता आदमी चुप हुआ, वहीं झटके से ज़मीन पर गिरा, सुधीर के दोनों पैर पकड़े और धाड़ मार कर रोने लगा। उसकी गालियां सबको समझ में आ रही थीं पर अब जिस भाषा का प्रयोग वह कर रहा था वह किसी की समझ में नहीं आई। वेदना की भाषा समझना मुश्किल तो होता ही है। गाली और नीति की भाषा सरल होती है क्योंकि उसमें करना कुछ नहीं होता पर प्रेम और वेदना की भाषा···

सुधीर ने सोचा—कुरड़ी से निकल कर कैसी-कैसी हरकतें कर

है, यह कीड़ा ।

पर सोचते ही उसे लगा कि अब और वह यह दृश्य देख नहीं पाएगा।

उसे याद है बचपन में भी कुरड़ियों के खुदने पर जब लम्बे-लम्बे कीड़े निकल कर इधर-उधर भागते थे वह डर कर नाना से लिपट जाया करता था । आज भी उसे वैसी ही वितृष्णा महसूस हुई । उसने दोनों पैर झटके से छुड़ाए । भीड़ के लोगों को धकियाता हुआ बस के गेट तक पहुंचा और चलती बस से कूद पड़ा ।

जहां सुधीर कूदा वह जमुना का गाटरों वाला पुल था। पुल से जरा-सा पहले । सुधीर को अच्छा लगा । इस पुल को पैदल पार करना उसे हमेशा अच्छा लगता है । खास तौर पर बरसात और सर्दी के मौसम में । सर्दी में यमुना की निरभ्रता और बरसात में उसकी दीवानगी उसे एक ही शिद्दत से मोहित करती रही है । खास तौर से बरसात में उसकी स्त्रैण अदा कि गर्मी के संकुचन और कुंठा के विद्रोह में वह स्वयं सारे कपड़ों को फाड़कर बहने ; लगे खूब बहे, निर्बाध-निरंकुश बहे, चारों तरफ हाहाकार मच जाए, मूल्यों से बने किनारे-सीमाएं नकार दे और वह चुके तो शान्त होकर तुष्ट भाव से मदिर-मंद गति से चलने लगे।···और यह बरसात है···किनारे टूट रहे हैं···

सोचते-सोचते सुधीर पुल पर चढ़ गया। पैदल यात्रियों की भीड़ में शामिल हो गया ।

चाहे जैसी अनजान भीड़ हो, भीड़ में आदमी को कदम मिलाकर चलना होता हैं ।

इस समय सुधीर हाथ पैर फेंकते हुए चलने की मूड़ में है। उसने चलना रोक दिया । रेलिंग पर खड़े होकर नीचे बहते अथाह पानी को देखने लगा ।

उसे यह हमेशा से अच्छा लगता है ।

पर इसमें उसे क्या अच्छा लगता है यह उसे कभी समझ नहीं आया ।

वह खड़ा होकर सोचने लगा । देखने लगा । कुछ अव्यक्त अपरिभा-

पेय अनुभव करने लगा।

वह क्या है जो इस प्रक्रिया में उसके मन को गुदगुदा रहा है ?

दिशाओं पर घिरे बादल ?

या उनका रंग, उनकी नमी, उनकी उरोजीय गोलाई ?

पैरों के नीचे वहती तरल धरती का अहसास ?

वहते पानी पर नज़र टिकाए देखने से पैदा हुआ दिशावोध लोप ?

या अचानक उछल कर पानी में कूद जाने की सहजानुभूत वासना

या ये सब, एक साथ 'क्रिस्टलाइज़' होकर ?

पर जो भी हो कुछ है जो उसके मन को हल्का करके वहाए लिए च जा रहा है। क्या है जो अनेकानेक पत्थरों को खिसका कर मन को ग वना रहा है, उड़ने की वात कह रहा है, फुसफुसाकर। शरावों ने जो उत्तेज पैदा की थी, किसने पोंछ दी ? संझा के सूट ने रगों में चुभना वन्द व कर दिया ? घर में जो रोज़-रोज़ ही आटा आता है, दो किलो, तीन कि या हद से हद पांच किलो। दो किलो रोज़ लगता है। पर इस सारी स्थि पर हंसी क्यों आ रही है, हमेशा तो झुंझलाहट उठा करती थी। यह कै आश्वस्ति-भाव है, मौत से पहले का या मौत को जीत लेने का ? या···

कूद पड़ूं पानी में ?

सोचकर सुधीर ज़ोर से हंस दिया।

उसे मालूम है, वासना की सहजानुभूति और वासना की पूर्ति में वहु गहरी खाई होती है। कितना चाहता रहा है कि प्रतिभा को किसी दि देखे, छुए, सहलाए, चूमे और जाने कि उसकी पलकों, पुतलियों और गर्द की खाल जितनी पारदर्शी है शेष शरीर की खाल भी उतनी ही पारद है या नहीं ? वादलों के कैनवास पर चिपकी प्रतिभा कैसी लग सकती है सड़क पर चलती, रेस्ट्रां में वैठी और घर में सजी प्रतिभा उसे कभी-क ही अच्छी लगती है, पर···उसने अचानक अपने चारों तरफ देखा। पु के दो टुकड़ों को जोड़ता हुआ वह खड़ा है। नीचे, सामने, दोनों तर दृष्टि-प्रक्षेपण की हर सीमा को पानी दवाए हुए है।···कैसा लगता है पानी ही पानी ! वह अकसर सोचता रहा है कि पैरों के नीचे वहता पा

उसे इतना सम्मोहित क्यों करता है। एक नशा-सा छाने लगता है उस पर। सिर में उठती घुमेर रस देती है। पर ऐसा क्यों होता है? पानी तो आखिर पानी ही है।...यह हो सकता है। आदमी को आदत होती है, पैरों के नीचे ठोस धरती देखने की और पैरों के नीचे की धरती ही घूमने लगे तो सिर में घुमेर तो आएगी ही...पर प्रतिभा को देखकर घुमेर क्यों आती है?...हाँ, यही बात तो है, समूचा शून्य आकाश 'क्रिस्टलाइज' होकर, एक आकार लेकर आपके सामने आकर बैठ जाये तो घुमेर तो आएगी ही...सुधीर के सिर में घुमेर को घुलाती हुई एक गुदगुदी-सी उठी। साथ ही उसका मन किया कि चला जाये। बहुत-सी जगह जाना है... संज्ञा के सूट का कपड़ा तो टाला जा ही नहीं सकता...तो चलें...अर्द्ध-स्वप्न क्षेत्र से, कर्म क्षेत्र में उतरा जाये...पर उस दिन तो...

उसने मुड़ने के लिए दाईं तरफ देखा ही था कि दीखा—एक और आदमी भी खुद में डूबा हुआ बादलों से उलटी दिशा में बहते पानी को देख रहा है। और वह आदमी और कोई नहीं उसका बेहतरीन दोस्त आनन्द है, जो पिछले दो साल से पता नहीं कहाँ गायब था। उसके घर जब भी सुधीर गया तो ताला बन्द मिला। एक दिन सुना, आनन्द बनारस चला गया है, साधु बन गया है। आनन्द की सफाईपसन्दगी, नफ़ासत, स्त्रैण सुन्दरता और बिना दारू, सिगरेट, चाय और औरत की ज़िन्दगी, दोस्तों की महफिल में सैकड़ों ठहाके उठवातीं। आनन्द के चुटकुले तो पेट में बल डाल-डाल देते। जिस होटल में आनन्द दूसरे तीसरे दिन खाना खाता था, उस के बेयरे उसे 'खुंदकी' कहते पर उससे बेहद मोहब्बत करते। पहले वह अपने सामने गिलास प्लेटें धुलवाता, फिर कभी सब्ज़ी की देग में झांकता तो कभी आटे की परांत के चारों तरफ घूमकर देखता। अपने सामने खड़े होकर पांच रोटियें सिकवाता, कहीं कोई पकानेवाला उसमें पसीना या कुछ और न डाल दे। उस की इन हरकतों पर सब हंसते पर वह कभी इन से बाज नहीं आया। घर में उसके पिता के सिवाय और कोई नहीं था। पिता रिटायर्ड ज़िन्दगी बिता रहे थे। इसलिए ज़्यादातर दिन तो दोनों फल-अंडे खाकर ही गुजर करते। दूसरे तीसरे दिन जब रोटी के स्वाद को जी करता...

पन्द्रह-सोलह साल पहले आनन्द से उसकी दोस्ती हुई थी। दो साल पहले वह अचानक कहीं गायव हो गया था। सव दोस्तों ने उसे वहुत ढूंढ़ा, पर कहीं उसका पता नहीं चला। यहां तक नहीं कि उसका आखिर हुआ क्या। पिता भी पता नहीं कहां चले गए थे। घर में हमेशा ताला वन्द मिलता।

आज कितने दिन वाद आनन्द दीखा है। कुछ कमज़ोर हो गया लगता है। कपड़े भी कुछ मैले-मैले से लग रहे हैं। आनन्द और मैले कपड़े!? कैसा ध्यान में डूवा नीचे वहते पानी को देख रहा है! इस 'प्यूरिटन' में रोमांस जाग गया क्या? पर रोमांस जागता तो ऊपर देखता नीचे क्यों देखता, तो?

कुछ कौंधा और सुधीर ने आनन्द के ठीक पीछे जाकर हल्के से अपना हाथ उसके कंधे पर रख दिया। सुधीर जानता था कि मुड़कर उसे देखते ही आनन्द उसकी कौली भर लेगा। कितने दिन वाद उसे उसकी धड़कती छाती का स्पर्श नसीव होगा। कैसे वह कभी-कभी इस स्पर्श के लिए तरस उठता रहा है। उसे अकसर लगा है कि उसके गले लगकर उसके पूरे शरीर के हर सैल को कोई हाथ से छूकर सांत्वना दे रहा है। आज फिर उसे वह सुख मिलेगा। पर···

आनन्द की यह वाहरी तन्द्रा तो टूटी पर अन्दर की तन्द्रा!?···

आनन्द ने मुड़कर देखा। दोस्त की आंखों से नहीं, एक अपरिचित की आंखों से।

सुधीर के मुंह से चीख-सी निकल गई, "आनन्द!"

आनन्द उतनी ही खाली दृष्टि से उसको देखता रहा। उसकी दोनों हथेलियां रेलिंग पर पहले की तरह ही चिपकी रहीं।

सुधीर ने कुंठित गले में से शब्द दाग़े, "आनन्द, मैं सुधीर हूं।"

"तो? मैं क्या करूं? आगे वढ़ो।"

"पागल हो गए हो। तुम मुझे पहचानते नहीं?"

"पहचानता हूं, तभी तो कह रहा हूं, आगे वढ़ो।"

सुधीर का सारा दिमाग झटका खा गया। उसने यथाशक्ति संतुलन वनाए रखकर कहा, "क्या हो गया तुम्हें आनन्द, तुम मुझे···?"

"मैं किसी को नहीं पहचानता। मैं किसी को पहचानना नहीं चाहता। मुझे पहचान शब्द से नफरत है। मैं किसी ऐसी गली में नहीं घुसता जो कहीं न कहीं, मेरी पहचानी हुई दुनिया का हिस्सा रही है।···और तुम, तुमने मालूम है क्या किया है इस वक्त···तुम जाओ, आगे बढ़ो···सब भ्रम टूटने वाले थे एकमुश्त, पर तुमने···जाओ, आगे बढ़ो···"

और झटके से आनन्द पीछे हटा, मुड़ा और शहर की तरफ भाग लिया। लगभग उतनी ही तेज चाल से, और उसी अन्दाज से जैसे एक जेबकतरा किसी के गले का हार तोड़कर भागता है। सुधीर को लगभग उसी तरह का झटका गले पर महसूस हुआ। वह कुछ दूर तक अपने उस बेशकीमती दोस्त के पीछे भागा भी। फिर रुक गया। हतप्रभ पुल की रेलिंग का सहारा लेकर खड़ा हो गया। उसे लगा किसी ने उसे सैंकड़ों बार घुमाकर अनायास ही धरती पर खड़ा कर दिया है।···घुमेर ही घुमेर··· सिर में और कुछ नहीं···पैरों के नीचे की धरती पानी होकर बही तो घुमेर आई थी···सारा आकाश सिकुड़कर प्रतिभा में सीमित हो गया था तब भी घुमेर आई थी···पर किसी भी वक्त सुधीर का 'मैं' पूरी तरह मिटा नहीं···पर यह कैसी घुमेर है···धुरीहीन आदमी को देखकर तो देखनेवाला ही एकदम 'क्षर' में पिघल रहा है···चारों तरफ फैला सौन्दर्य पल भर में कैसा काला पड़ गया है···सड़क पर लिसे चिपचिपे कीचड़ के सिवाय कैसे सब एक पल में लुप्त हो गया···

पता नहीं कितनी देर सुधीर उसी दशा में खड़ा रहा···

धरती तरल होकर पैरों के नीचे से बहने लगे तो सर्वव्यापी प्रवहमान तक जड़ हो जाता है···

सुन्न सुधीर कव खिसकता हुआ पुल पार कर गया और कब वह राजघाट तक पहुंच गया उसे खुद भी पता नहीं चला। गांधी की हमेशा वह मजाक उड़ाता रहा है पर आज उसकी समाधि के पास से गुजरते हुए उसे महसूस हुआ वह रो पड़ेगा। मरने के बाद आदमी के सुकून का कितना ध्यान रखा जाता है। कैसे शानदार हरे कालीन में लपेट कर सुला रखा है गांधी को, उसके'पुत्र-राष्ट्र' ने। कहते हैं, गांधी जब मारा गया मन से बहुत दुखी था। कितना खुशकिस्मत आदमी था, मन से दुखी हुआ और तत्काल मरने की सुविधा मिल गई। यह तो सच है, गांधी था खुशकिस्मत। जब जो चाहा, मिला। जो आन्दोलन-धारा लोकप्रिय होने लगी उसका नेता मर गया। अच्छे बड़े नेता अपने-अपने कारणों से गांधी के चारों तरफ जुड़ गए। जिसने जरा भी चूं-चपड़ की गांधी ने उसे मजबूर किया कि वह राजनीति की मुख्य धारा से खुद को काटने के लिए कुछ बड़ी गल्तियें करे'''पर जो भी हो गांधी था संत! दूसरे की चादर फाड़ो और अपनी फटी हुई चादर सियो, यह हिन्दू संत का प्रथम लक्षण रहा है।'''संत कहता है—किसी के प्रति क्रोध मत करो, किसी से घृणा मत करो, सबसे प्रेम करो'''यानी [साधारण आदमी की तरह नहीं, महान आदमी की तरह'''पर यह आनन्द'''क्या हुआ इस आनन्द को? यह साधारण से भी नीचे क्यों धंस गया? यह पागल क्यों हो गया? नहीं, यह पागल नहीं है। अचानक इसके चेहरे पर से 'डवल' टूट कर गिर गया है। 'डवल' टूट जाता है तो आदमी पागल हो जाता है। आज के समाज में चेहरे पर चढ़ा 'डवल' किसी के भी अस्तित्त्व की शर्त है'''पर यह अस्तित्त्व क्या चेहरे की कीमत पर'''

नहीं, वह सोचना नहीं चाहता, सोच नहीं सकेगा। उसे कुछ-कुछ अन्दाज़ है कि आनन्द के साथ क्या हुआ है'''वह नीम-पागल क्यों हुआ है, इसको सुधीर काफी सीमा तक देख सकता है'''पर इस समय वह सब

वह देखना नहीं चाहता···उसे सुकून चाहिए, उसे समस्याओं का हल चाहिए, उसे ठोस सहानुभूति चाहिए···उसे···

प्रतिभा के यहां चलना चाहिए···

पर उसकी समस्याएं···!

समस्याएं हल करने का नैतिक साहस चाहिए···

तो चलो, वहीं चलते हैं···

हां, नहीं···

सब छूट जाता है। प्रतिभा की कोठी में घुसते ही पीछे चिपटा सब खुद-ब-खुद झड़ जाता है। चेतना अचानक तरल हो जाती है। कैसे होता है यह? व्यक्ति का भी 'फील्ड' होता है! चुम्बक लौह-चूर्ण के बिखराव को, उसकी असंगतियों को कितनी दूर से प्रभावित करता है। जैसे किसी आदमी के पीछे कुत्ते लगे हों, वह भागता-हांफता किसी के पास पहुंचे और उसकी मात्र उपस्थिति उन कुत्तों को अचानक नेपथ्य में धकेल दे। पर जो भी हो, है यह जादू ही। जादू वहम भी हो तो भी सिर चढ़कर बोलता है।

हां, यह तो है, वहम और जादू एक ही तरह व्यवहार करते हैं।

वही, हरे कोपीन में लिपटा दीर्घकाय स्फटिक! और उसके भीतर बनी गुफा में गुडी-मुडी बैठी वह ओस की बूंद···नहीं, गुडी-मुडी होकर वह कभी नहीं बैठती ··एक विश्वसनीय 'ह्यूमन फिगर' उभरती है कनवास पर··· उसके बैठने, खड़े होने, बोलने, सब में एक गरिमा है, एक विश्वसनीयता है···वह वहम नहीं है···न जादू है···बस, अन्दर एक विश्वास जगाती है···और अन्दर कहीं विश्वास जागे तो व्यक्तित्त्व जादुई अन्दाज से बदलता है···बस, यही उसका जादू है···यही उसका सौन्दर्य···

पर, अविश्वसनीय तरल तपनभरा सौन्दर्य भी है उसके पास···

हां, है तो, कभी-कभी उसका मोतिया रंग अचानक सिर्फ सुनहरी शेड़ का हो तो उठता है···

होगा, सुधीर को मोतिया पसन्द है···सुनहरा उसके अन्दर तपिरा

पैदा करता है···उसके विखराव को वढ़ाता है···कुछ पिघलने लगता है··· टूटने लगता है···मोतिया में गहराई होती है···सुनहरा किरणें सिर्फ वाहर को फेंकता है···पर पिघले विना कभी कहीं 'टैम्पोरल यूनिटी' स्थापित हुई है, हो सकती है···?

पर, पर···प्रतिभा का क़द वहुत ऊंचा है···वह उसके सामने···

ओह ? क्या हो जाता है यह उसे, कितनी तेज़ी से भाव उतरने-डूवने लगते हैं···यह क्या होता है···

दो-दो सीढ़ियां चढ़ता हुआ वह उस छोटे-से मंच पर जा खड़ा हुआ जहां से वह अपने आने की सूचना देने के लिए वैल वजाता है···

उसका हाथ वैल के वटन की तरफ वढ़ा ही था कि अचानक उसे ध्यान आया कि शायद यह पहला मौक़ा है जव वह विना फोन पर तय किये आया है···

यह तो गलत हुआ···पहले ध्यान ही नहीं आया···यह तो एकदम गलत है···फिर ?···वापिस चलें···पर वह शायद और भी गलत होगा ···यह भी ठीक है···और इस तरह इस जगह खड़े होकर सोचना तो शायद वहुत ही गलत है···

कभी-कभी होता है कि एक क्षण के चारों तरफ गलत क्षणों का वृत्त घिर आता है और देखते-देखते सिकुड़ना शुरू कर देता है···तव इस क्षण में जीते व्यक्ति के अस्तित्त्व को वचाने का एक ही तरीका होता है, वस, कोई भी एक काम कर डालो···एक निःशब्द विस्फोट होगा और सिकुड़ता दायरा फैल कर टूट जाएगा और आदमी···

सुधीर ने जैसे जागकर पुश-वटन दवा दिया···

उसे और दवावों ने मुक्ति चाहिए···

और मुक्ति सिर्फ प्रतिभा के सान्निध्य में मिल सकती है···

पर यह प्रतिभा है कौन···?

कोई साल भर पहले की वात है···

और उससे भी दस साल पहले की वात है, जव उसकी कविताएं,

कहानियां छपा करती थीं, यहां-वहां, फुटकर और एक दिन उसने ऊब-कर तय किया था कि उसे नहीं बनना लेखक, वह लेखक की तरह स्थापित होने की कभी कोशिश नहीं करेगा···क्यों किया था उसने यह फैसला, ···ठीक से याद नहीं है···पर था कुछ बहुत घिनौना···बहुत त्रासद··· नहीं, उसे नहीं बनना लेखक, उसने चीखकर खुद से कहा था और यहां-वहां से, प्रकाशक-प्रेस से फुटकर काम लेकर जीना शुरू कर दिया था, और कभी-कभी जब मन करता कि कुछ लिखे तो लिखता और धीरे से किसी दीमक लगी फाइल में खिसका देता और पत्नी को धमका कर कह देता, "मेरी कोई चीज़ खोनी नहीं चाहिए।"

रमा हंसकर कहती, "कह दूंगी।"

"कह दूंगी ? कह दूंगी किससे ?"

"दीमकों से।···कि पूरी तरह नहीं खोनी चाहिए···"

"तुम यह सब ठीक नहीं कर सकतीं ?"

"फायदा ? जो आदमी अपनी नई कविता भी दीमक-लगी फाइल में रख सकता है, वह अपनी चीज की कीमत खुद ही नहीं···"

सुधीर ज़ोर से चीख उठता, "लैक्चर मत दो, सब ठीक करो।"

और कुछ कभी ठीक न होता···

फिर एक साल पहले दीखी थी प्रतिभा···

दीखी ही कहना चाहिए···मिलना कहना तो गलत है···हां, एकदम गलत···

सुधीर उस प्रकाशक के दफ्तर में घुसा तो दीखा, प्रकाशक के ठीक सामने की कुर्सी पर एक खूब सुन्दर, खूब चटकदार महिला बैठी हैं, और ज़ोर-ज़ोर से हंस रही हैं। सुधीर ने सुना। हंसी की आवाज़ कर्ण-मधुर ही नहीं थी, एक लय भी थी उसमें। सुधीर के अनास्था-पीड़ित शरीर को एक मीठी झुरझुरी-सी महसूस हुई। वह बैठ गया। महिला की तरफ ध्यान से देखा···सुन्दर है, वाक़ई बहुत सुन्दर है···और खास बात यह है सुन्दरता शरीर-विन्यास और चेहरे के नय-नक्स की मोहताज नहीं है··· बस, सुन्दर है···क्या सुन्दर है, उंगली उठाकर नहीं कहा जा सकता··· पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि बहुत सुन्दर है···

प्रकाशक ने परिचय कराया, "प्रतिभा, ये सुधीर हैं। कभी ये भी लिखा करते थे। अब—"

प्रतिभा ने धीरे से सुधीर की तरफ मुड़कर कहा, "अब क्या हो गया?"

सुधीर को याद है, उसने तोला था, प्रतिभा के स्वर में व्यंग नहीं था, फिर भी सुधीर की अनास्था-जनित कुंठा सक्रिय हो उठी थी। उसने तुर्श आवाज़ में कहा था, "बहुत लोग लिख रहे हैं, मैं भीड़ में शामिल होना पसन्द नहीं करता।"

प्रतिभा ने तत्काल कहा था, "बिल्कुल नहीं होना चाहिए। आप अलग तरह का लिखिए। भीड़ में शामिल भी नहीं होंगे और लिखते भी रहेंगे।"

सुधीर ने देखा, प्रतिभा उसी की तरफ देख रही है। उसने प्रतिभा की पुतलियों को पलक झपकते परखा। नहीं, व्यंग कहीं नहीं है। इसी बार उसे दीखा कि प्रतिभा की आंखें बहुत बड़ी हैं और आंखों में एक चाहत है, दुनियादारी नहीं है; उसकी दृष्टि किसी भी दबाव से स्वतन्त्र है। सुधीर का मन हुआ कि कहे कि आप बहुत भोली हैं, दुनिया से परिचित नहीं है। लिखने के लिए संवेदना को तीव्र करना होता है और छपने के लिए उसे कुंठित। पर बिना किसी परिचय के···

उसने धीमे से कहा, "आप ठीक कहती हैं। मैं लिख रहा हूं और भीड़ से अलग हूं। यही निस्तार का एकमात्र रास्ता है। क्योंकि छपने के लिए भीड़ में शामिल होने की बात तो छोड़िए, भीड़ का गुलाम होना पड़ता है···और वह मेरे बस का नहीं···"

सुधीर को याद है, प्रतिभा यह सुनकर उसकी तरफ ध्यान से देखती रही थी। होंठ दृढ़ता से जुड़े थे। दृष्टि अब भी व्यंगहीन थी। पूरे चेहरे पर से हास्य गायब था, एक गम्भीर तन्मयता थी—सोच की, सहानुभूति की, विश्वसनीयता की।

सुधीर को याद है—उसने प्रतिभा का अनुभव किया था और मुग्ध रह गया था। उसके अन्दर की जड़ता को 'शॉक' लगा था और वह उस 'शॉक' की गर्म गुदगुदी घर पहुंचने तक महसूस करता रहा था। घर पहुंच

कर उसने अपनी पुरानी दीमक-लगी फाइलें निकाली थीं और उन्हें बहुत देर तक उलटता-पुलटता रहा था···जिन्दा होने के चिन्ह···

किवाड़ खुलने की खटक् से सुधीर का ध्यान टूटा। आधे खुले दरवाज़े में खड़ी प्रतिभा दीख रही थी···

"तुम!"

"हां।"

"इस वक्त?"

"हां, खाली न हो तो लौट सकता हूं।"

"अरे! पागल हो, लौटोगे क्यों! अन्दर आओ ना···"

सुधीर प्रतिभा के पीछे-पीछे ड्राइंग-रूम तक गया और पनाह लेते-से भाव से एक कोच में धंस गया···

प्रतिभा खड़ी उसे देख रही थी। चिन्तित मन से···

"पानी?"

"नहीं।"

प्रतिभा भी पास के एक कोच पर बैठ गई।

"क्या हुआ?"

"कुछ नहीं।"

"मेरा मतलब···अचानक, बिना खबर किए···?"

"बस, यों ही···"

"यों ही?"

"हां, मन किया···चला आया। तुम्हें बुरा लगा हो तो चला जाता हूं।" सुधीर ने बहुत धीमे से कहा।

"ब्लैकमेल कर रहे हो?"

"क्या मतलब?"

"जानते हो, मैं इतनी असभ्य नहीं हूं कि कहूं कि जाओ, इसलिए···"

"मैं तुमसे ये सब वाक्य सुनने नहीं आया···"

"पूछ तो रही हूं, क्यों आए हो?"

"तुम्हें तो पुलिस में होना चाहिए था···सांस नहीं लेने दोगी··· बत्तीसवीं दफा कह रही हो, क्यों आया···?"

"मैंने सिर्फ एक दफा पूछा है !"

"मौक़ा मिलता···"

"हां, यह सच है, सौ दफा पूछती···"

"पूछो।"

"पूछूंगी। बोलो, चाय पियोगे या कॉफी ?"

"कॉफी ! और कुछ खाऊंगा भी, भूख लगी है।"

"गुड, यह हुई न बात···ऐसे बोला करो···लाती हूं···"

प्रतिभा ज़्यादातर चाय-कॉफी खुद ही बनाती है। नौकर से नहीं कहती। वह उठकर चली गई। सुधीर चुप नीले कनवास पर चिपकी हरियाली को देखता रहा। कहीं गहरे में सोच रहा था कि अब फिर अगर प्रतिभा ने पूछा कि क्यों आया है तो क्या जवाब देगा। पीछे का पीछे छूट जाने पर आदमी कितना खाली-खाली महसूस करता है। आकाश में लटकी बूंद की तरह। नहीं, बूंद में बन्द आकाश की तरह। यह कितना कोशिश करती हैं कि बूंद में बन्द आकाश बिखर जाए पर यहां तो समूचा आकाश पिघलकर चिम्मड़ हो गया है। उसे तो कोई नाखूनों से खुरच-कर ही···

"कॉफी !"

सुधीर ने प्रतिभा की तरफ देखा। कॉफी का प्याला थाम लिया।

वह फिर रसोई में चली गई। शायद कुछ खाने को लेने के लिए।

सुधीर के सिर पर लिपटा पल पिघलकर सिर को चिपचिपा कर लगा···

क्या करती है यह प्रतिभा उसके साथ ! वह होता है और उस काली छाया नहीं रहती। प्रकाश तेज़ हो जाता है और छाया गायब जाती है···कैसा करिश्मा है···बिना छाया का आदमी···पर बात क के लिए उसके पास कुछ और है भी तो नहीं, सिवाय उस काली छा के, बीभत्स इतिहास के···बात मज़ेदार है, बिना छाया का आदमी बिना इतिहास का आदमी···नहीं, वह आदमी इतिहास जिसका पं

कर रहा है···बस, कभी सिर पर सवार तो कभी पीछे छूटकर आंखों से ओझल···

प्रतिभा के दीखते ही उसका इतिहास मुंह फेरकर खड़ा हो जाता है···

पर होता तो है, कहीं भी हो···

और जो होता है, उसका प्रभाव भी होता है···

"लो, खाओ। परांठा बना दिया तुम्हारे लिए। कहां से आ रहे हो, भूखे-प्यासे ?"

सुधीर चुपचाप खाने लगा।

"कॉफी ठंडी तो नहीं हो गई ?"

सुधीर ने एक घूंट भरी, कहा, "नहीं।"

सुधीर खाता रहा। प्रतिभा देखती रही। चुपचाप।

"क्या हुआ है, बताओगे नहीं ?"

सुधीर ने कॉफी का प्याला उठाया और एक ही दफा में पूरा प्याला गले में उंडेल गया।

"ठंडी थी ना। कहा क्यों नहीं। और बनाती हूं।"

"नहीं।"

"एक परांठा और सेंक दूं ?"

"नहीं।"

प्रतिभा खिलखिलाकर हंस दी, "क्या 'नहीं-नहीं' लगा रखा है ? किसी बात पर 'हां' भी बोलो।"

"हां बोलने को है क्या ?"

'क्यों, क्या आसमान गिर पड़ा तुम्हारे सिर पर ?"

"तुम नहीं समझोगी।"

"जी हां, और क्यों समझूं···और जब यह जानते हो कि मैं नहीं समझूंगी तो घुमा-फिराकर समझाने की कोशिश क्यों कर रहे हो ?"

पल-भर चुप रहकर सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, तुम लोग—"

पर चील की तरह झपटकर प्रतिभा ने बात काट दी, "मेरी बात करो। मैं किन्हीं लोगों की प्रतिनिधि नहीं हूं।"

"मेरा मतलब—"

"मतलब कुछ भी हो, पर बात मुझसे कर रहे तो मुझसे ही करो, तुम्हारे पीछे हजार लोग हो सकते हैं, मेरे पीछे कोई नहीं। मैं किसी के कामों की जिम्मेदार नहीं हूं, ना ही किसी को 'शील्ड' करने की मूर्खता मैंने कभी की है···और गलत न समझो तो बताए देती हूं कि इस तरह बोलने को मैं अपनी 'इन्सल्ट' मानती हूं और यह हक़ मैंने आज तक कभी किसी को नहीं दिया।"

कहते-कहते प्रतिभा का चेहरा आक्रोश से लाल हो गया। आंखों की पुतलियां जलती रेत पर पड़ी मछलियों की तरह करवटें बदलती रहीं।

सुधीर सुन्न रह गया।

कई मिनट चुप रहकर फिर बोली, "बहरहाल, पूछना चाहती हूं कि बात क्या है जो इस क़दर 'डिस्टर्ब्ड' हो। मुझे खुशी होगी अगर बता सकोगे। कुछ हुआ, तुमने नहीं बताया और तुमने बताया और मैं कुछ कर न सकी तो—"

प्रतिभा अचानक टूट गई।

"रुक क्यों गईं?"

"तो रात को सोने के लिए 'पिल्स' लेने पड़ेंगे।" कहते-कहते सुधीर को दीखा कि प्रतिभा की आंखें नम हो गई हैं।

"तुम, प्रतिभा, इतना महसूस करती हो?"

"नहीं, मैं तो पत्थर की बनी हूं···तुम्हारे हिसाब से हम लोग तो पत्थर के बने होते हैं, और···"

"मैं माफ़ी चाहता हूं प्रतिभा, आई एम रीयली सॉरी!"

सुधीर विह्वल हो उठा।

"छोड़ो उसे, क्या हुआ है, बताओ!"

"पर···"

"मैं कहती हूं, बताओ।"

सुधीर का अहं का नाटक बिखर गया। उसने सब कुछ बताया।

पलक झपकते प्रतिभा ने समाधान भी कर दिया। सुधीर क्षण में जीने-वाला प्राणी, समस्या हल हुई, मन हल्का हुआ और लगा साहित्य और राजनीति के फारमूले बुनने-उधेड़ने। प्रतिभा ने भी खुलकर हिस्सा लिया। और चाय पिलाई। खाने को पूछा। धीरे-धीरे चलने का वक्त हुआ। चलने से पहले धीरे से, स्नेह से प्रतिभा ने कहा, "संकोच मत करना, आइन्दा भी।"

पर कोठी से निकलते ही सुधीर एकदम घबरा उठा, जो छूट गया था वह खड़ा उसकी इन्तज़ार कर रहा था और कोई उसे चिढ़ा-चिढ़ा कर कह रहा था—'तुम यहां आए इसलिए थे कि वह तुम्हारी समस्या हल करेगी। तुम्हें रुपया देगी।'

'नहीं, मैंने छल नहीं किया। मुझे ज़रूरत थी। हो सकता है मैं इसी आशा में आया हूं पर प्रतिभा मेरे लिए···'

सुधीर ने चीखकर खुद से कहा पर आगे की बात चारों तरफ गूंजते ठहाकों की आवाज से फट गई।

सुधीर ने दोनों हाथ पीछे बांधे, गर्दन झुकाई और किसी से कन्नी-सी क़ाट कर घर की तरफ बढ़ चला।

उसे लगा कोई उसके पीछे हो लिया है···निःशब्द ठहाके लगाता हुआ।

१०

सुधीर अपने क्वार्टर के बाहर खाट बिछाकर कभी नहीं सोता। पंखा हो या न हो वह कमरे में किवाड़ बन्द करके ही सोता है। बाहर ठंडी हवा होती है, पर उसका मानना है कि ठंडी हवा के साथ बदबू मन

को बहुत खराब करती है। चीजों का अपना-अपना मेल होता है। बदबू-दार ठंडी हवा तो मुहावरे के तौर पर भी अजीब ही लगेगी। पर रमा का तर्क और है। उसके हिसाब से बहती बदबू कुछ नुकसान नहीं करती। जिस तरह बहती गंगा में गिरकर सब अपवित्र पवित्र हो जाता है उसी तरह हवा पर बहती बदबू भी बहुत मनभावनी लगती है। वहां रहनेवाले और लोगों का मत भी कुछ-कुछ इसी प्रकार है। सिवाय उन लोगों के जो अकसर इस बदबू होने की चर्चा को कुछ दिमाग़ों का खलल बताते हैं और खुलकर कहते हैं—'साले बाबूगिरी दिखाते हैं। रहेंगे मजदूरों की बस्ती में और बात करेंगे बदबू की। लगवाते हैं, सालों के लिए, रात की रानी।'

बात यह है कि सुधीर के घर के ठीक सामने से जो नाला बहता है उसमें से होकर फैक्टरियों का फालतू पानी दूर तक जंगल में जाकर पसर जाता है। दरअसल यह बस्ती पहले नहीं थी इसीलिए इस नाले को इधर से निकाला गया। बस्ती बनने के बाद इस नाले को ढक दिया जाए यह किसी को ध्यान ही नहीं आया। गर्मियों और सर्दियों में तो खैर ठीक है पर बरसात में यह नाला थोड़ा उफनकर बहता है। अच्छा भी लगता है। बच्चों को खेल मिल जाता है और माओं को बच्चों को बचाने का काम।

पर आज सुधीर ने घोषणा की, "मैं बाहर सोऊंगा।"

रमा ने आश्चर्य से सुधीर की तरफ देखा, पूछा, "क्यों ?"

"क्यों क्या मानी ? बस, मेरी मर्जी।"

"वही तो पूछ रही हूं, आज यह मर्जी आई कहां से ?"

"तुम्हारा तो है दिमाग खराब, जी कर रहा है, बस।"

"बाहर बिछा देती हूं तुम्हारी खाट, खुशी की बात है। पर एक बात बताए देती हूं, दो घंटे बाद फिर मत कहना कि मर्जी ने करवट ले ली, मैं तो अन्दर ही सोऊंगा।"

"ओहो, तो उसमें क्या है, मन हुआ तो उठकर अपनी खाट अन्दर डाल लूंगा।"

"हां, वह तो मुझे मालूम है—खुद डाल लूंगा। आदमियों वाला कोई

काम तुमने कभी खुद किया है···" कहकर रमा खिलखिला कर हंस दी। संज्ञा भी पास मेज-कुर्सी पर बैठी पढ़ रही थी। उसे बातचीत में मजा आ रहा था। उसने अपनी किताब पर से सिर उठाया और पिता की नक़ल उतारते हुए कहा, "संज्ञा-आ-आ, बेटे, एक गिलास पानी तो लाना, और सुन, जरा माचिस भी।"

सुधीर को भी हंसी आ गई। संज्ञा और रमा तो हंस-हंस के लोट-पोट होने लगीं। हंसते-हंसते रमा ने कहा, "संज्ञा, तुझे याद है उस दिन क्या हुआ था ?"

"किस दिन मां, कोई एक दिन हो तो याद भी रहे।"

"वह पहले वाले मकान में जब एक दिन लेखक जी, खुले में सोए थे और बारिश आ गई थी। काफी देर पड़े भीगते रहे थे। वह तो मेरी नींद खुल गई। ध्यान आया तो जगाकर अन्दर लाई। पूछा तो बोले—ऐसा लगता रहा जैसे सपने में भीग रहा हूं।"

कहते-कहते रमा फिर जोर से हंस दी।

इस बार संज्ञा ने टोहका दिया, "पापा, मम्मी को डांटो।"

सुधीर खिसिया रहा था, बोला, "क्यों ?"

"ये तुम्हें पागल कह रही हैं।"

सुधीर उठकर खड़ा हो गया, धीरे से बोला, "पागल है।" फिर कमरे से बाहर निकलते हुए कहा, "हंस लो खूब, दोनों, फिर बिस्तरा बिछा देना। सोऊंगा मैं आज बाहर ही।"

बहुत दिनों बाद सुधीर और रमा की खाटें बराबर-बराबर बिछीं। इस तरह के घरों में स्त्री-पुरुष नाम मात्र को ही पति-पत्नी होते हैं। पति-पत्नी की तरह साथ सोना उनको बच्चों के साथ लुका-छिपी खेलकर ही नसीब होता है। बाहर खाटें साथ पड़ने से भी सुविधा सीमित ही रहेगी। हाथ छू लिया। पैर पर पैर रख लिया। या इसी तरह की कुछ फुटकर चेष्टाएं। जिनसे पैदा हुई उद्दीप्ति की हत्या करने के लिए काफ़ी मानसिक बल की आवश्यकता पड़ती है। वैसे भी सुधीर इस मामले में थोड़ा अलग है। स्पर्श-सुख के साथ तत्काल उसे शरीर-सुख चाहिए। इसीलिए सामान्य तौर पर वह स्पर्श से कतराता है। बाद की हिंस्र

"क्या मतलव ? गिड़गिड़ाया किसके सामने हूं मैं ?"

"इकतरफा लगाव में गिड़गिड़ाने के सिवाय होता ही क्या है ?" रमा ने कहा, वात तोड़ी और पल-भर रुककर फिर जोड़ दी, "खैर जो भी हो। पर दो वातों का ध्यान रखना। एक तो यह कि तुम्हारा स्वाभिमान और मेरा स्वाभिमान अलग चीज़ें हैं और दूसरा यह कि वहुत दूर निकल जाओ तो मुझे वता देना, मैं आवाज़ लगाना छोड़ दूंगी।...हां, एक वात और, विना पूछे वता रही हूं, मुझे विश्वास है कि तुम मोह करने के असली कारण में हेरा-फेरी नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है, तुम उनसे प्रेम करने लगे हो...मुझे विश्वास हो गया है..."

"तुम्हें दुःख हुआ है रमा ?"

"नहीं, सुख मिला है।"

दोनों चुप हो गए। सपाट लेट गए। दोनों ने मुंह आकाश की तरफ कर लिया। दिन में आज भी वादल घिरे रहे थे। बूंदावांदी भी वीच-वीच में होती रही पर तेज वारिश नहीं वरसी। इस समय आसमान विल्कुल साफ था। विना सितारों का नीला-काला आसमान। नम और चिपचिपा।

पता नहीं कितनी देर वाद रमा फिर वोली, "जाग रहे हो ?"

"हां, क्या है ?"

"एक वात और, यह सोचकर कभी मुझे छोटा न करना कि मैं ईर्ष्या भी कर सकती हूं।"

सुधीर विह्वल हो उठा, हाथ उठाकर उसने रमा के माथे पर रखा और भारी आवाज़ में कहा, "मैं तुम्हें पहचानता हूं रमा, तुम्हारे वड़प्पन को जानता हूं। मैं—"

रमा ने वात काट दी, "पर मेरे वड़प्पन की छाया में जीने का छोटापन मत करना, नहीं तो मैं तुम्हें छोड़ दूंगी।"

और इससे पहले कि सुधीर कुछ वोले रमा ने एक करवट ली और ...र से मुंह फेर लिया। चाहकर भी फिर वह रमा से वातचीत का दर-...न खोल सका।

नींद नहीं आई। सुधीर को। रमा का मालूम नहीं। उसने फिर करवट नहीं बदली। सुधीर के मन पर कुछ ही देर रमा की कही हुई बातें तैर सकीं फिर वह पिघलकर उस दुनिया में ढुलक गया जिसमें रहने की इच्छा में आज वह बाहर सो रहा है···

चारों तरफ जमी चुप्पी अंधेरे को 'क्रिस्टल' में वदल देती है। अंधेरे का विशाल 'क्रिस्टल' काले पत्थर से वने विशाल गुम्वद की तरह खड़ा है। ऊंधता हुआ-सा। सुधीर उसमें एक भुनगे की तरह फंसा है। फड़-फड़ाता हुआ। सुधीर की दाईं तरफ कोई सौ डेढ़ सौ फीट पर एक लैम्प-पोस्ट है। उसकी मंदी-मंदी रोशनी गुम्वद के अंधेरे को लिज़लिज़ा बना रही है। आसमान में सितारे होते तो पूरा गुम्वद थोड़ा रूमानी हो उठता पर इस समय तो महसूस हो रहा है कि गुम्वद की गोल दीवारों के नीचे डायनामाइट फैला हुआ है और गुम्वद वस उड़ने ही वाला है···प्रतिभा सुधीर के अस्तित्व के गुम्वद की दीवारों के नीचे फ़ैला वारूद होती है··· उसके अस्तित्व का गुम्वद फटने ही वाला है·· फिर ? फिर क्या ? नया अस्तित्व मिलेगा। पुराने अस्तित्व की चिंदियां हवा में उड़ती हुईं··· कितनी मनोरंजक लगेंगी। पर ज़्यादा दूर नहीं उड़ पाएंगी···गुम्वद में हवा नहीं आ पाती ना···थोड़ा ऊंचा उछलकर फिर उसके नये अस्तित्व के चारों तरफ आकर जमा हो जाएंगी···वह एक-एक को उठाकर पढ़ेगा ···किसी अपरिचित के इतिहास के पन्नों की तरह···और हंसेगा···काले पत्थर से बने गुम्वद में उसकी हंसी की आवाज गूंजेगी···वह सहमा-सहमा उस गूंज में लिपटा लेटा रहेगा···वह नहीं, उसका चेतना-पिंड···

अपरिचित के इतिहास की फैली चिंदियां···

एक-एक उठाऊं···नहीं, उतना धैर्य कहां वचा है···

तो क्या। उड़ते-उड़ते जो चिंदी जो शब्द झलका जाए···वस, तुम निश्चेष्ट लेटे रहो···चेष्टा करोगे तो इवारत का अर्थ वदल दोगे···अर्थ वदलने से वड़ा अन्याय-असभ्यता कोई नहीं···और इवारत का सच चेष्टा करके नहीं पकड़ा जा सकता···सच को महसूस किया जा सकता है··· चेष्टा करना कि जो महसूस करो, उसकी इवारत वन जाए, हो सकता है कि सच की कोई झलक तुम ले सको···अव यह प्रतिभा ही है···क्या

जानते हो तुम उसके बारे में···कुछ भी नहीं···पर कितना तुम उसे महसूस करते हो···बस, वही तुम्हारा सच है···उससे इधर-उधर मत हिलना, नहीं तो डूब जाओगे···जो भी दीखे उसे अपने एहसास के 'प्रिज़्म' में से देखना···नहीं तो सब झूठ दीखेगा···और···

प्रतिभा खुद एक एहसास है, एहसास का बना 'प्रिज़्म', उसमें से देखने से दुनिया बड़ी सतरंगी दीखती है···खूबसूरत दीखती है···

पर, पर दुनिया सतरंगी तो है, उतनी खूबसूरत नहीं है जितनी दीखती है···

खुद प्रतिभा की पलकों पर वेदना की काली छाया हर समय ओट दिए रहती है···

और ये चिंदिएं···यह कैसा खेल कर रही हैं···खुद खुलकर सुधीर की आंखों तक उठकर वहीं खड़ी रह जाती हैं···

कैसी क़तार-सी लग गई है···

गुम्बद में हवा नहीं होती ना···

और सुधीर के अस्तित्व के गुम्बद में गहरा नीला शून्य है···जो जहां होगा, वहीं रुका रहेगा···जड़ आकाश शायद इसी को कहते हैं···

तो ? आंखें बन्द कर लूं···?

पर पलकें भी तो जड़ हुई पड़ी हैं···चिंदियों पर लिखी इबारत पढ़नी तो पड़ेगी ही···

तो पढ़ो···पर कहीं ऐसा न हो कि पढ़ते-पढ़ते फिर जो छितरा रहा है, उसे जोड़कर, ओढ़कर बैठ जाओ, नहीं तो···

नहीं, ऐसा नहीं होगा, प्रतिभा उसे बचा लेगी, उसे विश्वास है···

क्या हुआ था···!

जो भी हुआ था, आज कितनी दूर है···गहरे अंधेरे में जुगनू की तरह चमक रहा है···जुगनू भी खूब मच्छर होता है, पंख खोलकर उड़ान भरेगा तो चमकेगा और पंख बन्द करके कहीं बैठ जाएगा तो अंधेरे में गुम···वही, बीती घटना की याद की तरह···कितने जुगनू हैं उसके दिमाग में पंख फड़फड़ाते हुए···कभी चमकते, कभी अंधेरे में गुम; कभी दूर, कभी पास···और···

क्या लिखा है, इस चिंदी पर ?

क्या मतलब हुआ इसका ?

लिखा है—तुम जब उसे मारोगे तो उसकी आंखों में इतनी मौहब्बत होगी, तुम्हारे लिए, कि तुम उम्र भर उसे भूल नहीं पाओगे···?

हुं:, क्या बेवकूफी से भरा वाक्य है···भला···

पर एक बात तो सच है, भूल तो नहीं पाता···हां, यह शायद सच है, यह जुगनू सबसे अधिक फड़फड़ाता है···अंधेरे में कभी गुम नहीं होता···ज़िन्दगी का भरपूर अंधेरा उसे कभी लील नहीं पाया, वह अंधेरे को···

देखा, हो गई न गड़बड़···वही जुगनू सबसे पहले पंख खोल बैठा जिससे तुम हमेशा कतराते रहे···जिसने हमेशा तुम्हारा जीना मुहाल रखा···जो···

छोड़ो, चिन्दी पर लिखा मज़मून पूरा पढ़ो···

हां, आगे लिखा है—हत्यारा मारने से पहले कुछ क्षण के लिए जिस डर को जीतता है, मारने के बाद उम्र भर उसी डर का गुलाम रहता है।

बहुत भयावह सच है···आक्रामक सच···

पर रुको, पहले पूरा मज़मून पढ़ लो। अभी एक सतर और है—

लिखा है—जब वह उसे मार रहा था, और तुम खड़े देख रहे थे तो तुम उसे मार रहे थे। मरनेवाला उसकी तरफ देख न देखे, तुम्हारी

तरफ भरपूर नज़र से जरूर देखेगा और तुम उम्र भर उसे भूल नहीं पाओगे···

ओह ! हटाओ इन चिन्दियों को···मुझे नहीं पढ़ना इनका मज़मून ···मुझ नहीं याद करना अपना इतिहास···मुझे नहीं···

कोई हंसा है, ज़ोर-ज़ोर से, ठहाके लगाकर···वही, जो तब हंसा था जब वह प्रतिभा के घर से बाहर निकला था···वही है, बिल्कुल वही··· सुधीर हंसी की इस आवाज़ को बखूबी पहचानता है···

दूसरी चिन्दी ने पहली की जगह ले ली है···आंखों के सामने खड़ी चमक दे रही है···उसे 'मेस्मराइज़' कर रही है···खुद पर लिखी इबारत को पढ़ने को मजबूर कर रही है···शायद पढ़ना ही पड़ेगा···

चलो, पढ़ ही लेते हैं···

इस पर भी वैसे ही तीन पैरे हैं···

लिखा है—किसी की मदद से किसी को मत बचाओ, वह अपना हिस्सा ज़रूर मांगेगा और फिर जिसे तुमने बचाया है, तुम्हें कभी मुआफ़ नहीं करेगा···

और लिखा है—मन जीतने से पहले शरीर मत लो। शरीर लेने के बाद मन जीतने का प्रयास मत छोड़ो। उलटा चलोगे तो विद्रोह ही पल्ले पड़ेगा, और कुछ नहीं···

और—बहुत चौकन्ना और डरपोक आदमी घर आए मेहमान का उचित सत्कार नहीं कर पाता। जो बाहर घटी घटना का अर्थ घर आकर समझते हैं, उम्र भर पछताते हैं। अपने प्रिय के अहं को ठेस पहुंचाना उसकी हत्या करने से छोटा अपराध नहीं है···

सुधीर हड़बड़ाकर जाग गया···उठकर बैठ गया···चारों तरफ देखने लगा, अंधेरे में झांक-झांककर···रमा शान्त सोई है···आस्मान में बादल घिर आये हैं···अंधेरा और गहरा हो गया है···यह क्या था ? भूत या भविष्य ? या तीनों गड्ड-मड्ड···भूत, भविष्य और वर्तमान···कहीं कुछ खूबसूरत नहीं है—सुधीर के अन्दर, बस, डर ही डर···जो भी खूबसूरत है, पहचान नहीं पड़ता···इतने घुप अंधेरे में जीना···गुम्बद में···बिना किसी खिड़की के···बिना···

रमा को जगा लूं ?

नहीं, एक अमूर्त खिड़की भी वन्द हो जाएगी···

तो ?

तो क्या । लेट जाओ । अभी तो—

नहीं, और एक भी चिन्दी पढ़ने की सामर्थ्य नहीं है, उसमें···पर इन दोनों का लिखा मजमून पिघल कर फैल रहा है···

'तो उसी को व्यौरेवार पढ़ूं ?'

कुछ पढ़ा जा सकता है, तो पढ़ लो।

वहुत पुरानी बात है। वह कोई सत्रह साल का रहा होगा। पूरे देश में मारकाट मची थी···हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के लिए हिंसक पशु थे···आदमियों जैसी वोली वोलते और जानवरों जैसे काम करते··· कुट्टी की तरह कटते वच्चे···गायों-भैंसों-कुतियों की तरह खुली सड़क पर दातुन कराती औरतें···पास-पास लगी चिताओं की तरह जलते मकान ···घर छोड़कर वीहड़ जंगल की तरफ भागते आदमियों के क़ाफिले··· चेहरों पर सिसकने के वाद का नम सन्नाटा लिए···आतंकित, दुख से अभिभूत···खुदा का नाम याद करते हुए···राम सुमरनी लपेटते···जिसके नाम पर मर रहे थे उसी का नाम मौहव्वत से लेते हुए···

सुधीर को याद है···उसके शरीर का लोहू भी तभी-तभी गर्म हुआ था ···हाथों पैरों में शक्ति फूट रही थी···उसके ग्रामीण शरीर में सामान्य से अधिक ज़ोर था···गुमसुम सुधीर हमेशा अन्दर उवलता रहता···कुछ न कुछ करने को मन करता···अच्छा या बुरा···

उसने देखा, चारों तरफ कुछ हो रहा है···उसने महसूस किया, उसके हाथों-पैरों में पंख निकल आए हैं···उसके शरीर का हर दाना रेगिस्तान की वालू के दानों की तरह भभक रहा है···

उसने भूत की तरह उस देशव्यापी श्मशान में घूमना शुरू कर दिया है···

उसने कहीं से एक गुप्ती प्राप्त कर ली थी···

वह भीड़ में होता···सामने से गोलियां बरसतीं···दुश्मनों के मकानों में बने मोर्चों से···सुधीर के पास खड़ा एक आदमी गिर पड़ता···सब भाग खड़े होते, पर सुधीर टकटकी लगाये उस गिरे पड़े आदमी को घूरता रहता···हां, उसे याद है···कई आदमियों की चीखती आंखों के बोल उसने सुने थे···एक सुन्न नपुंसक की तरह···और सुनकर वह चुपचाप वहां से हट जाया करता था···एक 'मेस्मराइज़्ड' जमूरे की तरह···

फिर···?

फिर एक दिन उसने भी एक आदमी की पसलियों और पेट के बीच बने छोटे-से गढ़े में अपनी 'गुप्ती' खोलकर घुसेड़ दी थी···

पूरा फल कुछ क्षणों के लिए उसकी दृष्टि से ओझल हो गया था··· जब फल बाहर आया था उसने महसूस किया था, एक लेस-सा उस पर लिसा है···

वह चिपचिपा लेस आज तक उसकी छाती पर, उसकी चेतना पर लिसा है···

उसकी आंखों की मोहब्बत आज भी उसकी आंखों में बसी है···

अनचाही 'गुप्ती' जब शरीर में जाती है तो सारा शरीर चिपचिपा हो जाता होगा···

तभी तो···तभी तो वह मर गई थी···पता नहीं, तभी की बात है, या कुछ दिन बाद की···पर उसे अच्छी तरह याद है···उसके अपने दोस्तों की 'गुप्तियें' एक-एक कर उसके शरीर में घुसी थीं और वह मर गई थी ···इन्हीं दोस्तों की मदद से उसने उसे एक बहुत बीभत्स स्थिति से उबारा था और उन्ही दोस्तों ने उसकी गैरहाजिरी में···

मरते हुए उसने कहा था—मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहूंगी, मर कर भी···

और वह सुधीर के साथ है··

दोनों सुधीर के साथ हैं···

उसके चारों तरफ घूमते हैं···उसके आडम्बरी रूपों पर ज़ोर-ज़ोर से हंसते हैं···उसका पीछा करते हैं···उसे खिझाते हैं···

पसीने में तरबतर सुधीर हड़बड़ाकर चारपाई पर ही घटनों में सिर देकर बैठ गया···सच्चाई से बुना दुःस्वप्न और भी भयावह होता है···भया-क्रान्त सुधीर का मन कर रहा है कि वह उठकर प्रतिभा के घर की तरफ भागना शुरू कर दे···भागता चला जाए···जब तक वह बेहोश न हो जाए···चाहे रास्ते में···चाहे उसके दरवाजे पर···या हो सके तो उसके पैरों में···एक अपराधी की तरह···

पर वह उठ नहीं पाया है···उसका शरीर टूट रहा है···

अंधेरे से बने विशाल गुम्बद में अकेला बैठा सुधीर बुदबुदा रहा है—

'तुम्हारे होंठों की हल्की-सी छुअन, प्रतिभा, मेरी चेतना की तमाम सिलवटों को निकाल देती, पर तुम्हारे गर्व ने कभी तुम्हें झुकने न दिया और मुझे, मेरे अपराध-जनित संकोच ने कभी उबरने···'

अंधेरा बहुत गाढ़ा हो गया है··

सुधीर के अन्दर थोड़ा-सा अंधेरा पिघलकर उसकी आंखों में छलक आया है···

रमा ने उसकी तरफ करवट ली है···

१२

अगले दिन सुबह-सुबह रमा ने याद दिलाया, "तुम्हें याद है ना, कल मुक़दमे की तारीख़ है।"

सुधीर ने कहा, "याद है।"

"और चाय पिओगे?"

"पी लेंगे।"

रमा ध्यान से सुधीर का चेहरा देख रही थी। धीरे से बोली, "तुमने

वहुत दिनों से कुछ लिखा नहीं ?"

"लिखूंगा।"

"क्या हुआ, ऐसे क्यों बोल रहे हो ?"

सुधीर ने वेहद ठंडे स्वर में कहा, "चाय !"

रमा मिनट भर खड़ी रही, फिर मुड़ी और रसोई में चली गई।

सुधीर ने जल्दी-जल्दी चाय पी। तैयार हुआ और घर से वाहर निकल आया।

उसके दिमाग में इस समय एक ही वात है। कल की तारीख के लिए इन्तज़ाम करना है। कल तो वकील को भी देने होंगे। कई तारीखों से टाल रहा है।

सवसे पहले सुधीर जहां पहुंचा वहां घुसते ही सुधीर को दीखा कि दरवार लगा है। हिन्दी साहित्य केन्द्र के दफ़्तर में मालिक की विशाल मेज़ के चारों तरफ पड़ी कुर्सियों पर हिंदी के दिग्गज, गैर-दिग्गज साहित्यकार जमे थे। मालिक महोदय—सेठ राममनोहर जी—स्वयं एक अच्छे लेखक थे पर अचानक एक दिन उन्हें महसूस हुआ कि प्रकाशन संस्थान के माध्यम से हिन्दी और हिन्दी साहित्य का अधिक प्रचार-प्रसार हो सकता है। वह अकसर कहते—'सिर्फ लिखता रहता तो यश मुझे ही मिलता न, पर यह छोटा-सा मंच वना कर मैं हिन्दी के 'कॉज़' की यथाशक्ति सेवा कर सका हूं। यही होना चाहिए। आदमी को सामाजिक होना चाहिए, सिर्फ अपने वारे में सोचना—'

इस समय राममनोहर जी अपनी मनोरंजक शैली में कोई घटना सुना रहे थे—सुधीर भी पीछे की एक खाली कुर्सी पर वैठ गया और सुनने लगा—

"वह तभी-तभी पहुंची थी कि हम पहुंच गए। खूवसूरत तो वह है ही। उस दिन कुछ ज्यादा ही चटक लग रही थी। मुझे मालूम था कि उस महफ़िल में उसके वनठन कर पहुंचने का कारण क्या था। पर हमें क्या। नमन् नमस्कार हुआ। उसकी तात्कालिक सुन्दरता की तारीफ़ की।

वह खुश हुई। हमने धीरे से उसके कन्धे पर हाथ रखा। पूछा, 'नई किताब आ गई ?' तो हंसी, बोली, 'अरे राममनोहर जी, यह भी कोई चाइल्ड्-बर्थ है कि समय पर होगी। आप लोगों का 'पीरियड़' तो एक महीने से दस साल होता है, जब भी डिलीवर कर दें···' वार गहरा था, पर औरत हमें 'बीट' कर दे, डूब मरने को जगह न मिले। हमने फौरन कहा, 'हमें दे कर देखिए, कभी अपनी किताब, फिर देखिए ठीक वक्त पर डिलीवरी होती है या नहीं।' पर साहब मानना पड़ेगा, 'सैन्स ऑफ ह्यूमर' उसमें है, ऐसी निर्बाध खिलखिलाकर हंसी कि तबीयत खुश हो गई। तय कर लिया फौरन कि इसकी किताब जरूर छापनी है। हम तो भई, 'ह्यूमन रिलेशन्स' में विश्वास करते हैं। दरअसल···"

किसी ने एक कुर्सी पर से कहा, 'ह्यूमन नहीं, वूमन रिलेशन्स में, है ना, राममनोहर जी। आदमी आप अभी तक—"

राममनोहर जी बिदक पड़े, "अभी तक क्या मानी ?"

एक और ने कहा, "ये तो मरते दम तक जवान रहेंगे। शर्त यह है कि 'साइन्स' तरक्की करती रहे।"

सब हंस पड़े। राममनोहर जी भी। सब के साथ हंसते हुए उनकी आदत थी कि चारों तरफ बैठे अपने सभासदों की तरफ देखकर हरेक से नज़र मिलाते थे। चारों तरफ देखा तो सुधीर बैठा दीखा। सुधीर से उनका विशेष प्यार है। एकदम उछल कर बोले, "अरे सुधीर, तुम कब आए ?"

हंसी मज़ाक में सुधीर भी हलका नहीं पड़ता था। बोला, "बस, वह आई थी कि मैं आया था।"

एक वृद्ध दीखते सज्जन ने मुंह बिचका कर कहा, "हां जी, राममनोहर जी के यहां किताब की डिलीवरी हो और सुधीर न आएं। यह तो भाई दाई हैं। 'प्रोड़क्शन' का काम तो यही देखते हैं।"

इस बार ठहाका ज़ोर का पड़ा। कुछ लोग जरा मुंह घुमा कर हंसे। कुछ लोग अचानक उठ कर खड़े हो गए। बोले, "अच्छा भाई, चलते हैं।"

धीरे-धीरे सभा विसार्जित हो गई। सुधीर अपनी कुर्सी पर से उठा और राममनोहर जी के ठीक सामने जाकर जम गया। कुछ देर इधर-

वहुत दिनों से कुछ लिखा नहीं ?"

"लिखूंगा।"

"क्या हुआ, ऐसे क्यों वोल रहे हो ?"

सुधीर ने वेहद ठंडे स्वर में कहा, "चाय!"

रमा मिनट भर खड़ी रही, फिर मुड़ी और रसोई में चली गई।

सुधीर ने जल्दी-जल्दी चाय पी। तैयार हुआ और घर से वाहर निकल आया।

उसके दिमाग में इस समय एक ही वात है। कल की तारीख के लिए इन्तज़ाम करना है। कल तो वकील को भी देने होंगे। कई तारीखों से टाल रहा है।

सबसे पहले सुधीर जहां पहुंचा वहां घुसते ही सुधीर को दीखा कि दरवार लगा है। हिन्दी साहित्य केन्द्र के दफ़्तर में मालिक की विशाल मेज़ के चारों तरफ पड़ी कुर्सियों पर हिंदी के दिग्गज, गैर-दिग्गज साहित्यकार जमे थे। मालिक महोदय—सेठ राममनोहर जी—स्वयं एक अच्छे लेखक थे पर अचानक एक दिन उन्हें महसूस हुआ कि प्रकाशन संस्थान के माध्यम से हिन्दी और हिन्दी साहित्य का अधिक प्रचार-प्रसार हो सकता है। वह अक्सर कहते—'सिर्फ लिखता रहता तो यश मुझे ही मिलता न, पर यह छोटा-सा मंच वना कर मैं हिन्दी के 'कॉज़' की यथाशक्ति सेवा कर सका हूं। यही होना चाहिए। आदमी को सामाजिक होना चाहिए, सिर्फ अपने वारे में सोचना—'

इस समय राममनोहर जी अपनी मनोरंजक शैली में कोई घटना सुना रहे थे—सुधीर भी पीछे की एक खाली कुर्सी पर वैठ गया और सुनने लगा—

"वह तभी-तभी पहुंची थी कि हम पहुंच गए। खूबसूरत तो वह है ही। उस दिन कुछ ज्यादा ही चटक लग रही थी। मुझे मालूम था कि उस महफ़िल में उसके वनठन कर पहुंचने का कारण क्या था। पर हमें क्या। नमन् नमस्कार हुआ। उसकी तात्कालिक सुन्दरता की तारीफ़ की।

वह खुश हुई। हमने धीरे से उसके कन्धे पर हाथ रखा। पूछा, 'नई किताब आ गई?' तो हंसी, बोली, 'अरे राममनोहर जी, यह भी कोई चाइल्ड्-बर्थ है कि समय पर होगी। आप लोगों का 'पीरियड्' तो एक महीने से दस साल होता है, जब भी डिलीवर कर दें...' वार गहरा था, पर औरत हमें 'बीट' कर दे, डूब मरने को जगह न मिले। हमने फौरन कहा, 'हमें दे कर देखिए, कभी अपनी किताब, फिर देखिए ठीक वक्त पर डिलीवरी होती है या नहीं।' पर साहब मानना पड़ेगा, 'सैन्स ऑफ ह्यूमर' उसमें है, ऐसी निर्बाध खिलखिलाकर हंसी कि तबीयत खुश हो गई। तय कर लिया फौरन कि इसकी किताब जरूर छापनी है। हम तो भई, 'ह्यूमन रिलेशन्स' में विश्वास करते हैं। दरअसल..."

किसी ने एक कुर्सी पर से कहा, 'ह्यूमन नहीं, वूमन रिलेशन्स में, है ना, राममनोहर जी। आदमी आप अभी तक—"

राममनोहर जी बिदक पड़े, "अभी तक क्या मानी?"

एक और ने कहा, "ये तो मरते दम तक जवान रहेंगे। शर्त यह है कि 'साइन्स' तरक्की करती रहे।"

सब हंस पड़े। राममनोहर जी भी। सब के साथ हंसते हुए उनकी आदत थी कि चारों तरफ बैठे अपने सभासदों की तरफ देखकर हरेक से नज़र मिलाते थे। चारों तरफ देखा तो सुधीर बैठा दीखा। सुधीर से उनका विशेष प्यार है। एकदम उछल कर बोले, "अरे सुधीर, तुम कब आए?"

हंसी मजाक में सुधीर भी हल्का नहीं पड़ता था। बोला, "बस, वह आई थी कि मैं आया था।"

एक वृद्ध दीखते सज्जन ने मुंह बिचका कर कहा, "हां जी, राममनोहर जी के यहां किताब की डिलीवरी हो और सुधीर न आएं। यह तो भाई दाई हैं। 'प्रोड्क्शन' का काम तो यही देखते हैं।"

इस बार ठहाका ज़ोर का पड़ा। कुछ लोग जरा मुंह घुमा कर हंसे। कुछ लोग अचानक उठ कर खड़े हो गए। बोले, "अच्छा भाई, चलते हैं।"

धीरे-धीरे सभा विसर्जित हो गई। सुधीर अपनी कुर्सी पर से उठा

उधर की हांकता रहा, फिर अचानक बोला, "आज मुझे सौ रुपये चाहिए, ज़रूर।"

राममनोहर जी गम्भीर हो गए। कई मिनट तक अपनी मेज़ के कागज़ इधर-उधर पलटते रहे। फिर नज़रें बचाकर बोले, "क्यों चाहिए?"

"कल मुक़दमे की तारीख है।"

"तो?"

"तो क्या?"

"तो यह कि उसका टैक्स मुझ पर क्यों? तुम्हारा कोई बिल तो हमारी तरफ है नहीं, बल्कि कुछ रुपया इधर का ही तुम्हारी तरफ निकलेगा। देखो, तुम्हारे ही फायदे की बात कह रहा हूं, हिसाब को हिसाब की तरह चलाया करो।"

सुधीर चुप हो गया। एक मिनट सोचता रहा। बात तो ठीक ही है। हिसाब तो हिसाब की ही तरह चलना चाहिए। पर यह भी ठीक है कि पैसे चाहिए। तो?...तो क्या, कहीं और चलो। भिक्षा ही मांगनी है तो निराश क्या होना। भिखारी दुनिया का सबसे बड़ा आशावादी होता है।

मन में आई इस बात पर सुधीर को मन ही मन हंसी आई। वह उठ खड़ा हुआ। बोला, "तो चलते हैं।"

"नाराज हो गए?"

"नाराज होने की इसमें क्या बात है। बात आप सही कह रहे हैं, पर पैसे का इन्तजाम तो करना ही है।"

"कहां जाओगे?"

"यह यहां से निकल कर सोचूंगा।"

"हो जाए तो मुझे खबर करना, चिन्ता रहेगी।"

"न हो, तो खबर न करूं।"

राममनोहर जी एक तटस्थता की हंसी हंस दिए, बोले, "अरे भला, यह कैसे हो सकता है कि तुम चाहो और इन्तजाम न हो। तुम इस काम में बहुत माहिर हो।"

सुधीर का मन खराब होने लगा था, बोला, "हां, माहिर तो हूं, पर सिर्फ इसी काम में।"

कह कर तेज़ी से सुधीर हिंदी साहित्य केन्द्र से बाहर पड़ी सड़क पर उतर आया।

किधर चलें ?

चलते हैं। पहले एक पान खाते हैं। जबाड़ा ऊपर नीचे होगा तो दिमाग़ की थोड़ी कसरत होगी, जड़ता दूर होगी।

हां, यह ठीक है।

आपको मालूम है सुधीर जी, आपकी बुनियादी कमज़ोरी क्या है ?

नहीं, नहीं मालूम।

हम बताते हैं, सुनो—तुम जहाँ प्रूफ-रीडर हो सिर्फ प्रूफ-रीडर रहा करो, उसी अन्दाज में बात किया करो, विनय से और जहां लेखक हो—पर नहीं, शायद उल्टा बता गया। जहां प्रूफ-रीडर हो वहां लेखक की तरह बात किया करो—गिड़गिड़ाकर और···हां, यह ठीक है, इस मामले में आजकल लेखक लाजवाब हैं। उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। पर उनके तरीके ज़रा सांस्कृतिक होते हैं···और ज़रा महंगे भी···उसके बस का···

पान के लिए कहकर सुधीर ने जेब में हाथ डाला तो उसके मन में एक हूक-सी उठी—"किधर चलें अब ?"

पर चारों तरफ देखने, पान तेज़-तेज़ चबाने, धीमे-तेज़ चलने और सड़क के बीचोंबीच खड़े होकर मोटरों-कारों-साइकिलों की भंवर में पैर जमाए खड़े रहने, और बच निकलने के कौतुक को झेलने के बावजूद सुधीर को कोई रास्ता नज़र नहीं आया। और बिना कुछ सोचे वह एक तरफ को चल दिया।

निरुद्देश्य चलना सुधीर की एक आदत है। असली मक़सद छोड़कर इधर-उधर की बातें सोचने लगता है। इससे उसे कुछ राहत मिलती है, शायद शक्ति भी। और आज तो उसके पास सोचने को बहुत कुछ है, प्रतिभा और हत्या गुडीमुडी हुए पड़े हैं···उगते सूरज की किरणें बस्तियों से उठते काले विषैले धुएं का रंग बदल देती हैं···हां, पर सिर्फ रंग ही बदल देती हैं ना, प्रभाव तो धुएं का विषैला ही रहता है···वह तो है···वह साला पारस पत्थर अब कहीं नहीं मिलता···मिलता क्यों नहीं···

मिलता है, पहचानना पड़ता है, और···

यह मुक़दमा भी गरदन में तौक़ की तरह आ पड़ा है···

नौकरी करो तो चार सौ रुपये महीना मिलता है और न करो तो···

लेखक होने में सिर्फ यश मिलता है···वह भी तब, जब···

सुधीर ज़ोर से खिलखिलाकर हंस पड़ा···

वह मोड़ आ गया। मोड़ नहीं, विशाल चौराहा। किसी एक सड़क के किनारे खड़े होकर देखो तो लगे कि सैकड़ों सड़कें अलग-अलग दिशाओं में फूट रही हैं। दरअसल दिशाभ्रम होता ही उन लोगों को है जो किनारे खड़े रहना पसन्द करते हैं···और दिशाहीनता का बोध ज़्यादातर उन्हें जो हर बहाव के साथ बहना अपना कर्तव समझते हैं। दोनों में से त्रास-दायक अधिक कौन है···एक से एक बढ़कर है···इसी चौराहे से एक सड़क प्रतिभा के घर की तरफ जाती है···चलें···नहीं-ई···बिल्कुल नहीं···फिर किसी दिन चलेंगे···जी तो कर रहा है···जी कर रहा है या समस्या का हल ढूंढ़ रहे हो···नहीं, बिल्कुल नहीं···तभी तो कह रहा हूं, आज नहीं जाऊंगा···आदमी का गरीब होना भी कितना बड़ा अभिशाप है···गरीब होना नहीं, अमीर होना···इनसे प्रेम करो तो अपने ही मन में 'गिल्ट' पैदा होने लगता है···कहीं लालच में तो कुछ नहीं कर रहे। अन्दर 'गिल्ट' हो तो रंग साफ दीख सकता है ? नहीं, रंग और शब्द अपना अर्थ खो देते हैं···वह प्रतिभा से···

सुधीर, कल मुक़दमे की तारीख है···वकील···मुंशीजी···पेशकार···

हां, है तो···तो ?

जितना वक्त तुम इस तरह बरबाद करते हो, उतने वक्त काम करो तो यह स्थिति ही क्यों आए···

सुधीर के चेहरे पर एक गहरी तीती मुस्कराहट बिलबिला गई—हां, यह सच है, मैंने कभी काम नहीं किया···मुझे काम करना आता ही नहीं···वैसा काम करना जिससे ऐसी स्थिति नहीं आती···

पर अभी काम करने से तो अभी पैसा मिलने से रहा···

घर चलो···आसपास कहीं देखेंगे···

आसपास···? आसपास क्या रखा है ? क्या होगा ?

नहीं होगा तो रात को नन्नूसिंह से बात करेंगे···

हां, यह ठीक है, इन तिलों में तेल है···

सुधीर ने निष्कृति की गहरी सांस ली और घर की तरफ मुड़ गया ···पैदल ही···

बरसात के मौसम का सूरज मन-वदन को खुरच रहा है···

१३

इसी चौराहे से एक सड़क सुधीर के घर के पास वाली सड़क से जाकर मिलती है। कोई दस किलोमीटर लम्बाई की सड़क। बीच में चौराहे आते हैं, सड़कें फूटती हैं, पर यह सड़क निर्द्वन्द्व, सीधी, छोटे-मोटे मोड़ लेती, बहती चलती है···काफी चौड़ी है, दो हिस्सों में बंटी हुई···आना-जाना···आना अलग, जाना अलग···इसे कहते हैं सीधा रास्ता···आदमी को भीड़ होने से बचाता है···आदमी आदमी बना रहता है···और···

हर सड़क पर पैदल चलनेवाले के लिए एक कार्पेट खुलता चलता है ···रात को चितकबरा, दिन को अबरकी···इस कार्पेट के रेशे मुलायम नहीं होते, पैरों में चुभते हैं···पैरों और सिर का सीधा सम्बन्ध होता है··· पैरों में कुछ चुभेगा तो सिर के बाल खड़े हो जाएंगे···बाल तभी खड़े होते हैं, जब बहुत दिनों से सोया कुछ उठ बैठता है···

कुछ···! ?

जोहड़ के पानी में से एक जानवर सतह पर आने की कोशिश कर

रहा है···कितना घिनौना जानवर है···छोटी-सी गर्दन···कमर पर काले गोल-गोल सिक्के जड़े हुए···उलट गया शायद···पैर आए थे सतह पर ···कितने अजीब पंजे हैं···कैसे हिल रहे हैं···लो, डूब गए, पर···

पर इन पंजों के कितने गहरे निशान उसके दिमाग़ पर खुदे हैं···

हर ऐसा निशान एक इबारत होता है···

पढ़ूं इसे ?···पढ़ो···पर डरना नहीं···नहीं, डरूंगा नहीं, डरने लायक संवेदना अब बची भी कहां है···अरे, डरने के लिए संवेदना की ज़रूरत क्या है···सिर्फ शरीर डरता है···याद नहीं है···जिस शरीर को उसने साल-भर साथ रहने पर भी अछूत की तरह दूर रखा था, सिर्फ इसलिए कि मन और शरीर का द्वैत जब तक मिट न जाए तब तक किसी एक को छूना नहीं चाहिए···अलग एक को छूने से दूसरा चोट खाता है, उसी शरीर को जब···कैसा डरा था···दोनों—मन और शरीर—के बीच की खाई कितनी चौड़ी, कितनी गहरी हो गई थी···कैसी विक्षिप्तता थी उसकी आंखों में···कैसे देखती रह गई थी, वह उसकी तरफ···

छोटा शहर। पक्के मकान, कच्ची-पक्की सड़कें और तरल, भावुक मन वाले लोग। बहुत प्रेम करते, बहुत लड़ते। यहां रात की दुनिया कुछ और ही होती। बड़े शहरों में शफ़्फ़ाफ़ चादरों के नीचे कीच-काई जमी होती है, यहां धूल-धक्कड़ की गन्ध-तले फूल खिले होते हैं। खुला मन चेहरे पर फूल खिला देता है। अन्दर जो भी है, अच्छा-बुरा, सामने है···और बड़े शहरों के लोग···जैसे भराई के जेवर···पीतल पर सोने की पतरी··· पतरी कहीं मोटी, कहीं भीनी···इन लोगों की सारी ज़िन्दगी इस पतरी को बचाए रखने में जाती है···कहीं से टूट न जाए कि नीचे का पीतल··· और इस निरन्तर उपेक्षा से अन्दर का पीतल तक काला पड़ जाता है। पतरी कभी-कभी खिड़की खोल दे तो काला स्याह छेद गहरे अन्ध-कूप जैसा भय पैदा करता है···हर शरीर में अन्ध-कूप की आशंका···और हर मन पर लगा जंग···भय का एक स्टील-वातावरण पैदा करता है··· पर···

तव सुधीर की शादी नहीं हुई थी···

वह पतली-सी गली जिसमें सुधीर रहता था—अकेला—वहुत गहरी थी। दूर तक गली ही गली। गली के दोनों तरफ लोग ही लोग। ज़्यादा-तर मुसलमान। दो-चार घर हिन्दुओं के भी। सुधीर एक मकान में नीचे वनी एक छोटी-सी कोठरी में अपने संक्षिप्त से विस्तरे को एक छोटी-सी खटिया पर लपेटता-लुढ़काता। उम्र कोई तेईस-चौवीस साल। ठीक-ठीक जवान। हम-उम्र दोस्त सव मुसलमान। रात-दिन ग़ालिव, मीर और फ़िराक़ की महकती छाया। और···

और···

और वह···रजिया···नाम उसका रजिया था, पर सुधीर उसे रधिया कहता···वह खुश होती···वह हमेशा खुश रहती···कितनी साफ-दिल, साफ-जुवान लड़की थी···जो दिल में होता, वही जुवान पर···कोई भ्रम नहीं, कोई छल नहीं···मन की वात कहने में किसी सही वक्त का इन्तजार नहीं···अदाओं की मोहताजी नहीं···यह फरेव नहीं कि कहो भी और मुकरने की सुविधा मुट्ठी में बन्द रखो···'मैंने कव कहा तुमसे यह' उसने कभी नहीं कहा। हमेशा कहा—'कह तो दिया। कितनी वार पूछोगे।'

सुधीर ने कहा था, "रोज़। जव भी मिलोगी।"

"तुम समझते हो मैं वदल जाऊंगी।"

"कान का मैल, नजरों की धुंध और मन की दुविधा तुम्हारे इस एक जुमले से साफ हो जाती है। वस, मुझे भरोसा है, तुम वदलोगी नहीं, पर वक्त···"

"वक्त से नहीं डरना चाहिए।"

"नहीं रजिया, दुनिया में सिर्फ दो ही चीज़ों से डरना चाहिए, एक वक्त से और एक खुद से, वस, और किसी से नहीं।"

"तुम अपने-आपसे डरते हो ?"

"वहुत।"

"फिर तो मुझे भी तुमसे डरना चाहिए।"

"मुझसे नहीं, अपने-आप से।"

जी कैसे हो गए।"

सुधीर भी हंस कर कहता, "हुआ तो नहीं, पर तुम्हारे बिना उम्र गुज़ारनी पड़ी तो हो जाऊंगा।"

रजिया हंस पड़ती, हंसती रहती, हंसते-हंसते कहती, "तुम्हें एक बात सुनाऊं ?"

"हूं।"

"एक बार मैंने अम्मी से पूछा, 'अम्मी, सच-सच बताना, तुमने भी कभी किसी से इश्क किया है।' तो अम्मी कुछ देर चुप रहीं, फिर भीतर की गुदगुदी को दबाते हुए बोली, 'अरी रानी, ऐसी भी कोई किशमिश होती है, जिसकी पीठ में तिनका न हो।' मैं हंसने लगी तो बेहद समझ-दारी की आवाज़ में कहा, 'पर बन्नो, किशमिश का स्वाद तिनका उतार कर खाने में है। समझी।' मुझे भला क्या समझना था। जब तक पीठ में तिनका है, तब तक ठीक है, जब कोई चूंट कर फेंक देगा, और खाने की कोशिश करेगा तो देखेंगे।"

"तुम्हारी अम्मी को सब पता है ?"

"हां।"

"और अब्बाजान को।"

रजिया फिर हंस पड़ी, "जिस दिन उन्हें पता चल गया, तुम्हारी खाल में भुस भरवा देंगे। उस वक्त से डरना।" कहकर वह ज़ोर से हंस पड़ी।

"अम्मी कुछ नहीं कहतीं ?"

"अरे, अम्मी हमारी बहुत रंगीन हैं। वह तो उकसाती रहती हैं। तुम्हें पता है, सुधीर अम्मी हमारी कौन हैं।"

"कौन हैं, क्या मानी ?"

"इस पूरे इलाके की मशहूरो मारूफ रक्क़ाशा रही हैं, हमारी अम्मी। कहते हैं लोग पागल थे इनके नाच पर, आज से पहले, पन्द्रह साल पहले तक। पांच बार निकाह किया और पांचों से एक-एक लड़का हुआ। फिर इश्क किया। पूरी शिद्दत से। मुश्किल से दो महीने रहा वह इस शहर में। पेशावर की तरफ का था। इस शहर में लकड़ी का कुछ सामान बन-

वाने आया था। अम्मी कहती हैं, मेरा अब्बा वह था। मुझसे ही सिर्फ उसके बारे में बातें किया करती हैं। कहती हैं, 'दो महीने में ही मेरी रूह बदल गई।' वह चला गया। दोनों ज़ार-बेज़ार रोये। मां ने धन्धा बन्द कर दिया। पहले पैसे से लड़कों को पढ़ाया-लिखाया और हिस्से बांटकर सबको अलग कर दिया। अम्मी उनके पास कभी नहीं जाती। छठा निकाह किया और मेरे साथ इस गली में रहने लगीं···तुम्हें मिलाऊंगी किसी दिन अम्मी से। आज भी नज़र फिसल न जाए तो कहना···इतनी मीठी आवाज़ है···"

"तुम बहुत प्यार करती हो अम्मी से?"

"हां, बहुत···"

सुधीर पाता कि मां का ज़िक्र करते-करते रजिया आत्म-विस्मृत-सी हो जाती है। अलौकिक सौंदर्य उसके चेहरे पर उभक आता है, वह···

सुधीर सोचता, कितनी निर्द्वन्द्व है···क्या कहानी है, और कैसे बेहिचक सुना रही है···

पवित्रता भला और किसे कहते हैं···

जगाता तो जाग जाती और अचानक उठकर घर चली जाती···

रजिया खुद किस क़दर खूबसूरत है···

चलते-चलते सुधीर का मन किया कि वहीं बैठ जाए। थोड़ा सुस्ता ले। पर चारों तरफ धूप ही धूप है। कहीं छाया नहीं है। इतनी दोपहर में भी किस क़दर भागदौड़ है—कार के पीछे ट्रक, साइकिल के पीछे स्कूटर, बस के पीछे सिर्फ उसकी छाया···इस क़द-बुत की औरत के पीछे भला कौन हो सकता है।···रजिया? गई। कौन याद करे। हिन्दू धर्म की महानता यही है···यह आवागमन तो चलता ही रहता है, सब भगवान करता है···

सुधीर वाक़ई बैठ गया। मेन रोड की गहमागहमी से हटकर एक मोड़ पर पड़े एक पत्थर पर। मोड़ का ट्रैफिक कुछ और ही आनन्द देता है। हर वाहन हल्का-सा अपना रूप बदलता है, या शायद एक किनारे से देखने से एक बदलाव का भ्रम देता है, बदलते हुए हर चीज़ लड़खड़ाती है, गिरने-गिरने को होती है, मुड़ जाती है तो फिर संभलकर सुध···

से चलने लगती है और आंखों से ओझल हो जाती है। कितने लोग सुधीर को देखते-देखते मुड़कर आंखों से ओझल हो गए। अन्दर-बाहर तो रोज ही होते हैं। हो रहे हैं। कौन जानता है इन जाते हुए वाहनों में कोई एक उसका घनिष्ट परिचित अपरिचय की धुंध में लिपटा चला जा रहा हो, और···अपरिचय की धुंध···नहीं, ग़लत मुहावरा है···धुंध परिचय में होती है···अपरिचय तो साफ-सुथरा शून्य है···शून्य आकाश···परिचय ही कम्बख्त आकाश में बहुत सारी चीजें उगा देता है···कहीं फूल, कहीं बादल, कहीं चांद और फिर धुंध के चक्रवात से चलने लगते हैं···परिचय व्यक्ति की त्रासदी है और···अपरिचय एक 'यूटोपिया'···

चलो, चलें, घर···
युटोपिया से त्रासद-भूमि की ओर···
कर्मभूमि···युद्धस्थल···

सुधीर उठा और फिर चलने लगा···बहुत सारे लोग साथ-साथ, आगे-पीछे···कोई ऐसा आदमी हो सकता है जिसका कहीं कोई परिचित न हो ···हो क्यों नहीं सकता···कालोनी में रहनेवाली पगली का कौन परिचित है। आनन्द अगर इसी तरह व्यवहार करता रहा तो कुछ ही दिनों में कौन उसका परिचित रहेगा···वह लेखिका जो सबके लिए महफ़िल की शोभा है, क्या वास्तव में उन सबकी परिचित है···और वह खुद···कौन है उसका परिचित ?···या किसके लिए, वह परिचित है···ये क्षणिक परिचय अपरिचय की कितनी गहरी नींव खोद जाते हैं···पर क्षण-निरपेक्ष परिचय स्थापित करने में···आदमी जीने का लोभी हो जाता है···और मौत तक पहुंचने की गति तेज़ हो जाती है···

कर तो रहा है आजकल वह इसका अनुभव···
चाहता तो है प्रतिभा से ऐसा ही परिचय बनाना···

पर···पर रुके वक्त में कोई किसी की तरफ कैसे बढ़ सकता है··· नहीं, वक्त के रुकने का अहसास तुम्हारी अपनी दृष्टि की धुंध है। ध्यान से देखोगे तो दीखेगा कि वक्त अपनी सहज गति से चल रहा है···पर धुंध

में खड़े आदमी से हाथ मिलाने से सब कतराते हैं···दृष्टि-भ्रम दूर करो, कहीं ऐसा न हो कोई तुम्हारे बराबर से होकर गुजर जाये···अपरिचय की केंचुली अपने शरीर से उतारे और पीछे को उड़ा दे···उस केंचुली में लिपटकर जीना तुम्हारी जिन्दगी की शर्त बन जाए···और अपनी जड़ता का दोष उम्र-भर तुम निर्दोष वक्त पर चुआते रहो···तुम···

यह क्या हो रहा है···?

वक्त कट रहा है···!

हां, काफी कुछ कट रहा है···

अचानक सुधीर को ध्यान आया, वह आनन्द के घर के सामने से निकल रहा है··

देख ही लें, है क्या···

सुखद आश्चर्य से खुले पड़े कमरे में से झांककर सुधीर ने देखा कि आनन्द अपनी चारपाई पर सपाट खुली आंखों लेटा है···

चारपाई पर सपाट लेटा आदमी कितना कृशकाय लगता है···

सुधीर कमरे में घुस गया···

"आनन्द···" उसने डरते-डरते पुकारा।

आनन्द समाधि में था। आवाज़ ने कांच तोड़ दिया। आनन्द ने करवट ली। लेटे ही लेटे सुधीर की तरफ देखा। धीरे से कहा, "तुम ?"

"हां। पहचान लिया तुमने ? क्या है, कुछ तबीयत खराब है ?"

"आओ, बैठो। कुर्सी घसीट लो···या यहीं आ जाओ चारपाई पर, मेरे पास···तुम तो मेरे दोस्त हो ना···"

सुधीर लगभग भागकर आनन्द की चारपाई पर लेटे आनन्द से सटकर बैठ गया···

"क्या है, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है ?"

"अच्छा हुआ तुम आ गए। इस समय तो चाहता था कोई भी आ जाए।"

कैसे बोल रहा है यह आनन्द ?···सुधीर की आंखों में आंसू छलके

पड़ रहे हैं…

कई मिनट दोनों चुप रहे…

आखिर आनन्द की आवाज़ सुनाई दी, ऐसे,जैसे कुएं से आती आवाज़ हो…

"मुझे बोलने देना सुधीर। बहुत दिनों से मैं बोला नहीं हूं। अच्छा हुआ तुम आए हो। कोई और आता तो शायद…सुधीर, मैं ज़रा जल्दी में हूं, आवाज़ टूट भी जाए तो भी बात समझ लेना…तुम मेरे दोस्त हो ना, कोई ऐसी हरकत न करना, जैसी दोस्त नहीं करता…कितने ताज्जुब की बात है, तुम आए हो…किवाड़ खुले हों तो कोई भी आ सकता था, पर कोई भी क्यों आएगा…आएगा दोस्त…दोस्त को दोस्त की ज़रूरत होती है…ढूंढ़ते-ढूंढ़ते, तुम आए और अब मेरी बात सुन रहे हो…कोई क्यों सुनेगा मेरी बात…पर, तुम दोस्त हो…दोस्त…

"तो सुधीर मेरे दोस्त…मैं जा रहा हूं…डरो नहीं, भाग मत जाना…मैंने कुछ नहीं खाया…मैं जा रहा हूं, मानी, इस शहर से… तुम्हें याद है एक दिन मैंने कहा था कि इस शहर से मुझे मौहब्बत है, यह शहर मैं एक ही दिन छोड़ूंगा…कमरे की सपाट दीवारों और खाली अलमारियां देख रहे हो, सब किताबें और जो आज तक लिखा था, रद्दीवाले को बेच दिया…तभी तो शहर छोड़ रहा हूं…तुम आंखें फाड़-फाड़ कर मेरी तरफ क्या देख रहे हो…मैं आनन्द हूं…तुम्हारा दोस्त…"

सुधीर के मुंह से धीरे से निकला, "आनन्द, चुप रहो।"

"तो मैं कह रहा था, सुधीर, कि मैं जा रहा हूं…तुम्हें मालूम है आदमी को सबसे ज़्यादा तक़लीफ कब होती है; जब कोई दीखे, आंखें उसे पहचानें और वह पहचानने से इंकार कर दे। देखने वाला चिर कर रह जाता है। मैं जा रहा हूं क्योंकि रोज़-रोज़ चिरने की मेरी सामर्थ्य अब खत्म हो चुकी है…सुनो, मेरा एक काम करोगे?"

"हां, बोलो।"

"मुझे अकेला छोड़ दो।"

सुधीर सुन्न रह गया।

आनन्द कई पल मृत दृष्टि से सुधीर को देखता रहा, फिर बहुत थके

स्वर में बोला, "दोस्त नहीं हो ?"

"हूं ।"

"तो जाओ ।"

"बताओगे नहीं आनन्द, आखिर हुआ क्या ?"

"नहीं, थक गया हूं, बहुत···बता नहीं सकूंगा···पर यह समझ लो, नहीं, यों समझ लो कि···नहीं, तुम जाओ···बस, जाओ···"

"आनन्द, तुम कभी मुझसे···" कहते-कहते सुधीर का गला रुंध गया।

आनन्द एकदम चुप रहा। उसकी आंखें तक मृत-चुप थीं।

सुधीर ने हिम्मत करके फिर कहा, "किसने तुम्हें इस किनारे···"

"तुमने ?" नेपथ्य से आनन्द ने कहा।

"मैंने ! ?"

"हां, तुमने···और तुम जाओ सुधीर, मेरा दम घुट रहा है।"

"पर···?"

"तुम नहीं समझोगे, बताऊंगा तो भी नहीं। तुम जाओ।"

"तुम्हें ऐसी हालत में छोड़कर···"

"जाओ।" कहकर आनन्द ने दीवार की तरफ करवट ले ली और फिर सुधीर के बार-बार पुकारने पर भी उसने उसकी तरफ मुंह नहीं किया। सुधीर धीरे-धीरे खिसककर बाहर जाने लगा तो उसे महसूस हुआ कि आनन्द ने करवट लेकर फिर खुद को सपाट कर लिया है।

बाहर सड़क पर आकर सुधीर को लगा वह चकराकर गिर पड़ेगा। आनन्द कहता है—मैंने उसकी यह हालत की है। मैंने तो उससे प्रेम करने के सिवाय कुछ नहीं किया। रजिया कहा करती थी—तुम्हारा यह इतना प्यार हर वक्त गले पर छुरी की तरह घिसता रहता है। रमा कहती है—कुछ भी हो, कुछ है जो मुझे तुमसे बांधे है। इस दमघोंट वातावरण के बावजूद न कभी भागने को मन किया न मरने को···और उसने क्या कहा होगा, मानी जिसे मैंने—वह भी मुझे पहचानता तो था···हां, पह-

चानता था···पहचानता न होता तो मरते वक्त चीखता ज़रूर···पहचान ने उसके होंठों पर आई चीख होंठों पर ही जड़ कर दी···चीख जड़ होती है तो अन्दर का सब सीसे की तरह पिघलकर···

सुधीर को लगा अब और वह सोच नहीं पाएगा···किसी ने अचानक स्विच ऑफ कर दिया है···पर···

यह प्रतिभा अंधेरे में बैठी क्या कर रही है···एकदम सादी धोती में···सद्यः स्नाता-सी···चेहरा कैसा धवल-पुष्प-सा खिला है···यह क्यों हर समय मुझ शापग्रस्त की जिजीविषा की तरह···

शापग्रस्त की जिजीविषा···अच्छा नाम है, प्रतिभा का···कहूंगा कि अपना एक बड़ा सा फोटो दो···उसके नीचे किसी से लिखवाऊंगा, किसी आर्टिस्ट से—शापग्रस्त की जिजीविषा···अच्छा नाम है···बहुत अच्छा ···सम्बोधन नहीं बनता, नहीं तो उसे इसी नाम से···

इस इतने गहरे मूर्त्त अंधेरे में—उंगली पकड़ लो प्रतिभा—इतनी अमूर्त्त मत रहो···

मुझसे साहस की आशा मत करना···सब चुकाकर तुम्हारे पास आया हूं···

१४

घर में घुसते ही सबसे छोटे लड़के संदीप ने सूचना दी, "पापा, आज पगली को लोगों ने खूब मारा।"

"मारा?"

"हां पापा, बहुत मारा, कई जगह उसके खून निकल आया। उसके सब कपड़े फाड़ दिए। एकदम नंगा कर दिया।"

"कौन थे ?"

"पता नहीं।"

"कालोनी के नहीं थे ?"

"नहीं।"

"यहां के लोगों ने छुड़ाया नहीं ?"

"सब खड़े हंसते रहे। किसी ने नहीं छुड़ाया।"

"तूने क्यों नहीं छुड़ाया ?"

संदीप चुप रहा। पापा की तरफ देखता रहा।

सुधीर बैठ गया तो रमा आकर गिलास पानी दे गई। पांच मिनट सुधीर चुपचाप बैठा रहा। रमा चाय ले आई। कुछ देर चुपचाप खड़ी सुधीर का चेहरा देखती रही। चेहरा शायद रोज से अधिक रुग्ण था। वह जानती थी, ऐसे में बोलना भी खतरनाक होता है और न बोलना भी। इस संदीप के बच्चे ने यह अखबार पढ़कर सुना दिया। वह भी जानती है कि इस तरह की खबरें सुधीर को बहुत बौखला देती हैं। बाहर निकला तो जरूर किसी से झगड़कर लौटेगा। सोचते-सोचते अचानक उसे मुक़-दमे की तारीख का ध्यान आ गया। एकदम पूछ बैठी, "कल के लिए पैसों का इन्तजाम हो गया ?"

"नहीं।"

"तो कैसे होगा ?"

"हो जाएगा। यह पगली का क्या हुआ ?"

"मुझे क्या मालूम।"

सुधीर चुप रहा। फिर पास खड़े संदीप से बोला, "संदीप, जा, एक धोती अम्मा से ले ले और पगली को दे आ।"

रमा भड़क उठी, बोली, "दो हैं मेरे पास कुल और एक मैं दे दूं पगली को।"

"अच्छी लगेगी वह कालोनी के दरवाज़े पर नंगी बैठी हुई।"

"तो मैं क्या करूं ? मैं ही रहती हूं इस कालोनी में। सौ सौ क्वार्टर हैं। और शायद ही कोई औरत हो जिसके पास सिर्फ दो धोतियां हों।"

"औरों से क्या मतलब है ?"

"तुम्हें औरों से क्या है? पगली पर तुम्हें बहुत रहम आ रहा है, मुझ पर तो कभी नहीं आया।"

"रमा, मैं बहुत थका हूं। तुम्हें भेजनी हो तो भेज दो, नहीं तो..."

"नहीं तो..."

सुधीर ने त्रस्त दृष्टि से रमा की तरफ देखा, फिर बोला, "नहीं तो एक कप चाय और बना दो।"

रमा हंस दी। बोली, "कपड़े बदल लो।"

"पहले चाय..."

"कल पैसों का क्या होगा?"

"पहले चाय..."

रमा चली गई। इस बार दो कप चाय बनाकर लाई। एक अपने लिए। कुर्सी घसीटकर पास बैठ गई। धीरे से बोली, "सुनो, एक बात बताओगे?"

"हूं।"

"तुम लोग, ये किस्से कहानियां क्यों लिखते हो?"

इतनी मानसिक ऊहापोह में भी सुधीर को हंसी आ गई। बोला, "आज यह क्या हुआ?"

"नहीं, ऐसे ही पूछ रही हूं।"

"जी करता है, इसलिए लिखते हैं।"

"क्यों जी करता है? सबका क्यों नहीं करता?"

सुधीर को शब्द ढूंढ़े नहीं मिले। जितने सरल तरीके से रमा पूछ रही थी, जवाब न देना भी सम्भव नहीं था। पर ऐसे प्रश्नों के सरल जवाब नहीं होते। इसलिए वह बहुत देर बैठा सोचता रहा। फिर बोला, "रमा, मुझे औरों की तो मालूम नहीं, अपनी जानता हूं। मैं जो कह नहीं सकता वही लिखता हूं। आदमी जो कहता है वह पूरा सच नहीं होता क्योंकि कहने में वह आधे डर को जीतता है, आधे यानी छोटे डर। पर बड़े, यानी मूलभूत डरों को वह लिखने की प्रक्रिया में ही जीत पाता है और डर जीतना मानसिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि है, बस यही...

रमा ने टोक दिया, " यानी वह अन्दर-बाहर के डरों से सीधे मुक़ा-

बला न करके, घुमा-फिराकर उनसे लड़ने का ढोंग करता है।"

"वह कैसे ?"

"देखो, मैं कह रही हूं कि डर सामने खड़ा हो तो उसकी तरफ मुंह करके उससे लड़ना चाहिए। यह नहीं कि उसकी तरफ पीठ करके बैठ जाओ और दूसरी दिशा में कुछ शब्द उछालकर समझो कि डर को जीत लिया। तुम लोग यही तो करते हो। डर से लड़ने की जगह उस पर कहानी लिखते हो। डर तुम पर वार न कर सके और जनता तुम्हें वीर कहकर पुकारे। क्यों, यही है न तुम्हारी चालाकी।" रमा के चेहरे पर कहते-कहते एक शरारत उभक आई थी।

पर सुधीर बात में मज़ा ले रहा था। उसके अन्दर की तन्द्रा टूट रही थी। उसने रमा को उकसाते हुए कहा, "कोई मिसाल देकर समझाओ।"

रमा हंस दी, बोली, "लो, मिसाल दिये देती हूं। इसमें क्या है। एक क्या हजार मिसाल दे सकती हूं। यह पड़ोस में जो भटनागरनी रहती है, मालूम है ?"

"हां।"

"तुम्हें मालूम है, जिस कारखाने में वह काम करती है वहां से उसे कितने पैसे मिलते हैं ?"

"शायद सौ रुपये महीना।"

"नहीं, सत्तर रुपये महीना। उम्र तो उसकी कम है पर सिर के आधे बाल सफेद हो गये हैं, नहीं तो शायद सौ रुपये भी मिल जाते। तुम्हें मालूम है, क़ानूनन यह जुर्म है। पर होता है। जुर्म के खिलाफ लड़ो नहीं तो वह जुर्म नहीं होता। भटनागरनी लड़ी थी···तुम होते तो उस पर एक कहानी लिखते···बस यही भेद है, आदमी में और एक लेखक में। आदमी लड़ता है, लेखक बैठा लिखता है···"

सुधीर ने समझाने के स्वर में कहा, "रमा, लड़ने से पहले एक वातावरण तैयार करना होता है, एक सेना···"

रमा बहुत बेताब थी। उसने फिर बात काट दी। बोली, "वह सब क्या तुम्हारी इन कहानियों से होगा। सात जनम नहीं। कभी नहीं।

करके देख लो।"

"तो कैसे होगा ?"

"मैं क्या जानूं। पर ऐसे नहीं होगा। यह सब निरर्थक···"

दोनों ने देखा, संज्ञा कमरे में घुसी है। कन्धे पर लटका बैग एक कोने में मेज़ पर पटका है और गुसलखाने की तरफ बढ़ गई है।

"लो, आ गई तुम्हारी लाड़ली। अब इसके सामने बात मत बढ़ाना नहीं तो पूरा भाषण सुनना पड़ेगा।···और धोती मैंने तुम्हारी पगली को भिजवा दी थी, कभी इसी कारण बेचैन रहो।"

सुधीर ने कहा, "रमा, जरा समीर को भेजकर दिखवाना नन्नूसि है या नहीं।"

"नन्नूसिंह ?"

"हां।"

"व्याज पर लोगे रुपया ?"

"हां, कहीं से हुआ जो नहीं।"

"क्यों, प्रतिभा जी दूसरे ही झटके में टूट गईं ?"

सुधीर चुप रहा। एकदम सुन्न। उसे रमा से शायद इस तरह के वा की आशा नहीं थी। वह चुप ही रहता पर संज्ञा के लौटने की आवा ने उसे जगा दिया। बड़बड़ाहट के स्वर में उसने कहा, "रमा, आइन्दा क प्रतिभा पर व्यंग न करना। मैंने आज उससे कुछ नहीं कहा। पर यदि व और वह मना कर दे तो उसका क़द ज़रा ऊंचा ही होगा। मैं जानता किसी एक का भिखारीपन सबको छोटा करता है। पर मेरे कारण अ वह छोटी होती है, तो कम से कम तुम—"

रमा ने बात समझी। महसूस किया। धीरे से कहा, "मैंने सि मज़ाक किया था।"

सुधीर ने कहा, "अच्छा मज़ाक किया करो। आदमी का मज़ाक उस सोच का आईना होता है। मैं नहीं चाहता कि जो तुम साफ न कह स मज़ाक में कहो।···तुम तो खुद इसके खिलाफ़ हो।"

"अच्छा बाबा, माफ़ करो।"

"छोड़ो। समीर को भेज दो।"

"हां।"

"और सुनो रमा। तुम्हें आनन्द की याद है ?"

"अरे, उन्हें कोई भूल सकता है।"

"पागल हो गया।"

रमा ने घूरकर सुधीर की तरफ देखा।

"वह भी, तुम्हें याद है, बहुत मज़ाक करता था।"

संज्ञा ने रसोई में खड़े होकर कपड़े बदले। बाहर के कमरे में आई। पापा-ममी को गम्भीर बैठे देखा तो बोली, "क्या हुआ ?"

दोनों ने एक स्वर में कहा, "कुछ नहीं।"

"आज 'चूहा दौड़ बिल्ली आई' नहीं हो रहा ?"

दोनों हंस पड़े। सुधीर ने कहा, "अरे, हम क्या हर समय लड़ते रहते हैं।"

"यही तो। लड़ते कभी नहीं। लड़ लो तो ठीक हो जाए। हर समय एक-दूसरे से खेलते रहते हो। खैर, लम्बा अभ्यास है, अब छूटेगा थोड़े ही। मुझे उस सब से क्या लेना-देना।...पापा, एक बात बताओ।"

दोनों मुग्ध होकर संज्ञा को देख रहे थे। दोनों के मन में एक ही भाव था—कल तक जरा-सी थी। कैसी बड़ी हो गई है। अक़्लमंदी की बातें करने लगी है। अब हमें अक्ल दिया करेगी। चलो, सुख की बात है।

सुधीर ने कहा, "क्या बात ?"

"पापा, हम कुछ दोस्तों ने मिलकर तय किया है कि एक छोटा-सा ग्रुप बनायें, उसकी आए हफ़्ते मीटिंग करें, अलग-अलग सामाजिक-राजनीतिक मसलों पर बहस करें और इस शहर की गरीब-बस्तियों में कुछ काम करें। कैसा रहेगा ?"

सुधीर उत्साह से भर उठा, बोला, "बहुत अच्छा, बहुत बढ़िया, पर तुम लोग यह सब कर सकोगे ?"

संज्ञा एकदम तिनक उठी, बोली, "देखो पापा, यह भाषा हमसे मत बोला करो। हम लोग जो सोचते हैं, करने की इच्छा रखते हैं, दृढ़ता के साथ। हम असफल होने से कभी नहीं डरेंगे पर अपनी इच्छा-शक्ति पर फफूंद कभी नहीं जमने देंगे। तुम उत्साहित न कर सको तो कोई शिकायत

नहीं होगी पर तुम्हारे शब्द यदि हमारे मन में दुविधा की स्थिति पैदा करेंगे तो हम—"

"हां, क्या—?" मंत्रमुग्ध सुधीर ने पूछा।

"हम तुमसे अपने कार्यक्रमों के बारे में बात करना छोड़ देंगे। फिर हमारा-तुम्हारा रिश्ता—पापा पैसे लाओ—तक सीमित हो जाएगा। हम से 'डायलॉग' बनाये रखना है, तो तुम्हें हमारे साथ चलना होगा। न आगे-आगे, न पीछे-पीछे।"

सुधीर ने हंसकर कहा, "चलेंगे।" फिर एक पल सोचकर बोला, "और हमारा-तुम्हारा विरोध हुआ तो ?"

निर्द्वन्द्व संज्ञा ने कहा, "हम और तुम आमने-सामने होंगे या अपनी-अपनी पगडंडी पर···चलो ममी, खाना दो।"

खाना परसते-परसते रमा ने संज्ञा से कहा, "संज्ञा, वह जो आनन्द थे ना, तेरे पापा के दोस्त, पागल हो गये।"

संज्ञा ने सुना। कुछ देर सोचती रही। गहरे में फिर बहुत धीरे से बोली, "तुम्हें मालूम है ममी, आदमी पागल क्यों होता है ?"

रमा चुप रही।

"जो लोग सोचते हैं, करते नहीं, पागल हो जाते हैं। ये लेखक कुछ इसी क़िस्म के लोग होते हैं। इनकी खोखली मानव सहानुभूति इन्हें ले डूबती है। जिससे सहानुभूति है उसके लिए लड़ क्यों नहीं मरते। ऊंची आवाज़ और संकोच-जड़ चेतना इनके मनोविकार का मूल कारण है··· राजनीतिज्ञ कभी पागल नहीं होते···पापा को ही लो—"

रमा ने बात काट दी। स्नेह से संज्ञा की तरफ देखती हुई बोली, "तू तो एकदम बहुत होशियार हो गई संज्ञा। मुझे पता ही नहीं चला।"

संज्ञा ने कहा, "यह तुम दोनों के चल रहे खेल की कृपा है।"

"संज्ञा, मैं तेरे साथ हूं···बोल, रखेगी मुझे अपने साथ ?"

संज्ञा चुप रही। उसने कोई जवाब नहीं दिया। उसे मालूम था कि इस समय का कोई भी जवाब कल को झूठ साबित हो सकता है। मां से वह झूठ नहीं बोल सकती। फिर अभी तो उसी को मालूम नहीं है कि वे लोग क्या करने जा रहे हैं।

रात को रमा ने पति से धीरे से कहा, "संज्ञा बड़ी हो गई है।"

"हां, हम लोगों से बड़ी।"

नन्नूसिंह से प्रबन्ध हो गया था, इसलिए सुधीर का मन निरुद्वेग था।

१५

कचहरी की विशाल पांच-मंजिली बिल्डिंग अपने व्यक्तित्व से ही एक भय पैदा करती है। कचहरी की बिल्डिंग बड़ी ना भी हो डर उससे पैदा होता ही है। एक अपराध-जन्य उदासी उसकी हवा में घुली होती है। हर चेहरे पर लिखा होता है—मुझसे धीरे बोलो, मैं सोच रहा हूं—पर हर आदमी बहुत तेज़ बोलता है। चाहे वह वकील हो या ग्राहक, मुंशी हो या पेशकार। कारिडोर में से गुजरते हुए शेयर मार्किट की गन्ध आती है और कोर्ट-रूम में बेंच पर बैठा आदमी टक लगाकर नाटक-सा देखता रहता है। मुक़दमा चाहे किसी भी चीज़ का हो—फौजदारी हो या दीवानी—आवाज़ लगते ही दिल ज़रूर धड़कता है। न्याय और भय अपने देश में पर्यायवाची हैं। अपराध करके एक क्षणिक मानसिक स्वतन्त्रता जो व्यक्ति को प्राप्त होती है, कचहरी में घुसते ही वह एक ऐसी त्रासद उम्र-क़ैद का रस देती है कि लगता है इससे छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता। सुधीर ने कई बार सोचा, 'फांसी की सज़ा सुनकर क़ैदी को पता नहीं कैसा लगता होगा।' पर साथ ही उसके दिमाग़ में हर बार यही आया, एक छुटकारे की सांस लेता होगा वह। कहता होगा, 'कचहरी से छुटकारा दिला दो, कहीं भेज दो।' उसे याद है, उसने एक दिन सोचा था—उस पर अगर हत्या के अपराध में मुक़दमा चलता तो वह यही कहता जज से भी और पुलिस से भी, मैंने मारा, 'मुझे फांसी दो, मुक़दमा न चलाओ। कचहरी न

ले चलो ।' एक वार वहुत पहले रजिया के मामले में वह कचहरी में फंसा था, और उसे याद है उसने···हां, मुक़दमा नहीं चला था···पर इसी विल्डिग में एक सी० आई० डी० इन्सपैक्टर के यहां रोज उसे पेश होना पड़ता था ···सुवह पौने दस वह आता और शाम पौने छै जाता···उस इन्सपैक्टर ने उसे वचा लिया था—सिर्फ दो सौ रुपये लिए थे—पर दस-वारह दिनों की उस वेंच की वैठक ने उसकी सारी मानसिकता वदल दी थी । रजिया उसके हाथ से निकल गई थी···और वह अपने हाथ से निकल गया था ···उसके वाद कभी वह पहले वाला सुवीर नहीं दीखा···और···

उंह ! क्या याद आ गया । कल सारे दिन का हैंग-ओवर ही बाकी है, यह आज फिर भूत पीछे लगने लगा था···अच्छा हुआ समय पर चेत गया···तारीख है, चलो, मुंशीजी को ढूंढ़ो···आज किसी तरह तारीख मिल जाए तो वढ़िया···पांच सात रुपये देकर···देखो पटाते हैं, मुंशीजी को···मुंशीजी साले अपना टैक्स मांगेंगे···

देखते हैं···मांगेगा तो है ही···चलते हैं, वस्ते पर···वकील तो आया नहीं होगा अभी···साढ़े नौ वजे हैं···पौने दस से पहले कभी नहीं आता ···आ गया होगा तो पचास रुपये दे देंगे···कह देंगे, और अगली तारीख पर देंगे···तारीख ले रहे हैं तो खुश होगा···पिंजरे का तोता पिंजरे में··· फ़िक्र काहे की···पच्चानवें हैं जेव में, रात सौ लिए थे ना नन्नूसिंह से··· अच्छा आदमी है, नन्नूसिंह···वड़ा लिहाज़ करता है···सवसे पांच रुपये सैंकड़ा लेता है, उससे तीन रुपया···कभी मना नहीं करता···

तारीख मिल जाए तो मज़ा आ जाए···

मज़ा क्या आ जाएगा ? दस-वीस रुपये फालतू के जाएंगे···

चाहे जेव के सारे ही चले जाएं···तारीख मिल जाए···जल्दी से जल्दी यहां से···हां ! उससे मिलेगा क्या···

विल्ली के दीखते ही कवूतर को आंख मूंदने पर क्या मिलता है, तुम्हें क्या मालूम···

मूर्ख का खिताव !

···यह तो तुम देते हो, पर उसे भीतर ही भीतर क्या मिलता है, तुम्हें क्या मालूम···और मालूम हो भी कैसे सकता है···

मालूम है···मौत···

वह भी तुम्हीं देते हो पर···

अच्छा छोड़ो, चलो मुंशीजी को ढूंढ़ते हैं···

सुधीर खिसकता-खिसकता वस्ते पर पहुंच गया। वस्ता, यानी वकील साहब की दुकान।

एक मैली-कुचैली कुर्सी, खुले में। कुर्सी के दोनों तरफ, दो लम्वी वांहों की तरह फैली दो वेंचें। वांहें न हों तो आदमी छिटक जाए। इन वांहों की गिरफ़्त में आकर···एक वेंच की जड़ में चिपकी एक मेज़ पर सजा टाइपराइटर···जाहिर है, टाइपराइटर के पीछे वैठा टाइपिस्ट, एक और कुर्सी पर···

दूसरी वेंच के एक कोने पर सजे मुंशीजी···वरावर में रखा फाइलों का ढेर···हाथ में एक पैड़···पैड़ के क्लिप में अटके कुछ कागज···सवसे ऊपर के कागज पर आज के मुक़दमों का चिट्ठा···

मुंशीजी यानी छोटे-से कद के वूढ़े से सरदारजी···

सुधीर ने उन्हें सुदामा-भाव से देखा। भागकर उनके पास पहुंचा। चरण छूने को मन तो किया पर उनकी टांगों पर चिपके पायजामे से छुटे पैर वहुत ही मैल थे। पायजामे में घुटनों की जगह उभरे गूमड़ भी तीखो घिन पैदा कर रहे थे। मुंशीजी के गालों की खाल, आंखों के ऊपर चिपकी भंवे और नाक की नोक हर समय हिलती रहती है। लगता है जैसे किसी वटुए में चावी भरकर···

सुधीर ने कंठ को तर किया और पुकारा, "मुंशीजी।"

मुंशीजी ने ऊपर देखा, पहचाना और रुखे पर ऊंचे स्वर में कहा, "आ भाई सुधीर, आ गया, आज तो तेरी तारीख है। चल फिर पहुंच जा इकसठ नं० में···"

सुधीर ने कहा, "वकील साहव तो आए नहीं, अभी।"

"आते ही होंगे।"

सुधीर एक मिनट चुप रहा, फिर वोला, "मुंशीजी, आज तो कुछ तारीख लेने का चक्कर चलाओ।"

"क्यों?"

"मुझे कहीं जाना है।"

"देख भाई सुधीर, यह आई दफा का चक्कर ग़लत है। तू कहीं मुक़दमा खराब न कर दे, मुझे डर है।"

"आज तो कराओ ही मुंशीजी।"

"अच्छा, तो आने दे वकील साहब को।"

"तुम भी मुंशीजी, समझते नहीं हो। इस वक्त तो पेशकार फ़ुरसत में होगा। जज के आने पर…

"तो वकील साहब से नहीं मिलोगे?"

"लौटकर मिल लेंगे।"

"अरे सुधीर बाबू, तारीख मिलने के बाद कौन वकील से मिलता है। वकील और वेश्या, इनकी अदायगी बाद में नहीं होती। पैसों का इन्तज़ाम आज भी नहीं हुआ शायद?"

"नहीं।"

"तो तारीख कैसे लोगे?"

"इतने तो हैं।"

"कितने हैं?"

"पन्द्रह रुपये।"

"पन्द्रह में क्या काम चलेगा। लम्बी तारीख लेनी पड़ेगी। मैं जानता हूं। गरीब आदमी हो। पैसे का इन्तज़ाम होते-होते ही होगा। वह अग्रवाल साला बहुत ही कमीना आदमी है। दस से कम में नहीं मानता। क्या ज़माना आ गया है, पहले एक रुपये में तारीख मिलती थी। मैंने अपने हाथ से हजारों…अच्छा चल, निकाल, पन्द्रह ही निकाल। कराते हैं तेरा काम तो…गरीब आदमी है…"

सुधीर ने मज़ा लेने के लिए दस रुपये का नोट निकालकर मुंशीजी की तरफ बढ़ा दिया।

मुंशीजी फुदककर खड़े हो गए। बोले, "और दे पांच!"

"तुम तो कह रहे थे कि अग्रवाल दस में मान जाएगा।"

"और उसका स्टेनो, और वह साला हनोफ, दोनों साले मुंह बाए देखते रहते हैं।"

"पर मेरे पास कुछ नहीं वचेगा।"

"देख लो भाई, पन्द्रह से कम में तो नहीं होगा। और जो कहना हो जल्दी कर। वकील साहव आनेवाले हैं। मैं अपने काम में लगूंगा।"

सुधीर जानता था अग्रवाल को मुंशीजी पांच से ज्यादा नहीं देंगे। वाकी दस अपनी जेव में रखेंगे। पांच रुपये देकर वह खुद भी तारीख ले सकता है, पर उसे तारीख देने में अग्रवाल ग्यारह वजा देगा। कहेगा—"वैठो वेंच पर, अभी करता हूं तुम्हारा···" सुधीर का मन आज विल्कुल नहीं है यहां ठहरने का। उसने मुंशीजी के और ज़रा-सा नजदीक खिसककर कहा, "देता हूं पांच पर एक शर्त पर।"

"क्या ?"

"मैं देकर चला जाऊंगा। तुम डलवा लेना तारीख।"

"दो।"

"मामला खराव मत कर देना।"

"ऐसी वात आइन्दा मत कहना। वाल सफेद हो गए इसी काम में, कभी किसी का काम···"

सुधीर ने जेव से निकालकर पांच रुपये और दिए, फिर पूछा, "जाऊं ?"

"जाओ, पर अगली दफा मुझे मत फंसाना इस दलदल में। यह हर दफा का खेल नहीं है।"

सुधीर हंस पड़ा, वोला, "अच्छा, तारीख का कार्ड डाल दोगे ?"

"डाल दूंगा। और वकील साहव को क्या कहूं ?"

"कहना, घर आऊंगा एक दो दिन में।"

"तो तभी पूछ लेना तारीख भी।" कहकर मुंशी जी ने सुधीर की तरफ से मुंह फेर लिया। सुधीर भी विरक्त हो चुका था। मुड़ा और कचहरी के विषैले वातावरण से वाहर निकलने के लिए क़दम वढ़ा दिए। वह मन ही मन खुश था कि वहुत जल्दी पिंड छूट गया और इसलिए भी कि वह मुंशी जी को उदास छोड़े जा रहा है। मुंशी जी वाक़ई उदास थे। उनका खयाल था कि सुधीर से और पैसा खींचा जा सकता था, उन्होंने उसे सस्ता वख्श दिया है, पर जो भी होना नियत था, हो चुका था···

सुधीर कचहरी की सीमा से बाहर खिंचा आ रहा था···

वह चाहता था आज प्रतिभा से मिले···थोड़ा सुकून···

प्रतिभा···परती भा···तीभा···नहीं, रतिभा···

सुधीर को अपने इस मानसिक खेल पर हंसी आने को हुई। वह मेन गेट से बाहर निकल रहा था···कैसी मनोहारी निष्कृति···कैसी ठंडक···

पर तभी किसी ने उसे पुकारा, "कौन ? सुधीर ?"

सुधीर ने उधर देखा। ये ? अरे, कौल साहब ?

कौल साहब पास आए। सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर कौल। वही रोबदार चेहरा।···पन्द्रह साल बाद भी कोई कैसे अपने-आप को ज्यों का त्यों रख सकता है। सुधीर ने उत्साह से एक क़दम आगे बढ़ाकर कहा, "कौल साहब, आप ?"

"और तुम यहां कैसे ? फिर कुछ इश्क-विश्क मार दिया क्या ?"

"अरे कौल साहब, क्यूं मज़ाक···"

"बहुत दुबले हो गए हो। तुम्हारी सेहत तो···

"मैंने आपको बाद में बहुत खोजा।"

"क्यों !"

"आपके साथ एक कप चाय पीने की इच्छा थी।"

"हम पिलाएंगे।"

"यह तो बात गलत होगी।"

"नहीं, गलत नहीं होगी। तुम्हारे दो सौ रुपए मेरे पास जमा हैं।"

"आपको सब-कुछ याद है ?"

"हां, वह केस ही ऐसा था। अच्छा चलो, चाय पीते हैं।"

सुधीर मन्त्रमुग्ध-सा इन्स्पेक्टर के पीछे हो लिया।

रैस्ट्रां में सुधीर कौल साहब के ठीक सामने बैठा। कुछ देर दोनों चुपचाप बैठे रहे। सोचते से। शायद एक ही घटना के बारे में। अलग-अलग कोण से। सुधीर को याद था—यदि यह इंस्पैक्टर उसे न बचाता तो उसके पांच-सात-दस साल आराम से जेल में बीतते। अचानक सुधीर जरा-सा आगे

झुका और गहरी दृष्टि से कौल की तरफ देखकर बोला, "एक बात बताइए इंस्पेक्टर साहब !"

"हूं।"

"आपने मुझे क्यों बचाया था ?"

कौल साहब हल्का-सा मुस्करा दिए, "तुमने दो सौ रुपए दिए थे।"

"मज़ाक नहीं, सच बताइए।"

कौल चुप हो गए। एक मिनट चुप रहे, फिर बोले, "तो सच यह है कि तुमने अपराध नहीं किया था।"

"पर—"

"छोड़ो, बहस से कुछ साबित नहीं होगा। पर इतना समझ लो कि हम रात दिन यही काम करते हैं। कौन अपराध कर सकता है, कौन नहीं, पहली नजर में जान लेते हैं। मैंने तुम्हें देखते ही—"

"मैं अपराध नहीं कर सकता ?"

"ना, कभी नहीं। मैं देख रहा हूं, तुम बदले नहीं हो।"

सुधीर को वाक्य बहुत गहरे में छू गया। इतने विश्वास से कभी किसी ने उसके बारे में ऐसा वाक्य नहीं कहा था। वह चुप बैठा इंस्पैक्टर का चाय पीना देखता रहा।

इन्स्पैक्टर भी सोच रहा था। सोचते-सोचते प्याले को एक लम्बे घूंट में खत्म करके बोला, "मैं जरा जल्दी में हूं सुधीर, चाय पी लो। उठेंगे। मैंने भी तुम्हें बाद में बहुत खोजना चाहा। वक्त नहीं मिला, नहीं तो खोज लेता। तुम्हारी रक़म तुम्हें वापस करना चाहता रहा। मन पर उस रक़म का बोझ था। चलो, आज मिल गए हो, बोझ उतर जाएगा।···एक बात तुम्हें बताऊं। हम लोग 'सेन्टीमेंटल' नहीं होते। पर तुम पहले आदमी हो मेरे पूरे पुलिस के केरियर में जिसने मुझे अन्दर से हिला दिया था। मेरे लिए वह एक नया अनुभव था। अच्छा लगता है सुधीर, यह देखकर, कि कोई किसी से इतनी शिद्दत से प्यार करे। खैर, चलें। उठो।"

कहकर कौल साहब ने जेब से एक भारी-सा बटुआ निकाला। दो नोट बहुत से नोटों में से खींचे और एक विजिटिंग कार्ड। पहले कार्ड दिया, "यह मेरे घर का पता। किसी दिन घर आना, जरूर। और यह

तुम्हारी अमानत है। मना नहीं करोगे। भले आदमी हो, क्यों चाहोगे कि मेरे मन पर वज़न रहे। लो।···और चाय के पैसे तुम दे देना। मुझसे लेगा नहीं।"

और अपना 'मोनोलॉग' समाप्त करके कौल ने अपना भारी भरकम हाथ मिलाने के लिए बढ़ा दिया। मोह-मुग्ध सुधीर का हाथ ऐसे उठा जैसे मशीन का पुर्जा उठता है। इन्स्पैक्टर ने पुर्जे को छुआ और सुधीर को उसी तरह सोचता छोड़ वह लम्बे संतुलित डग भरता हुआ रैस्ट्रां से बाहर हो गया।···सुधीर की आंखों से ओझल···

ओह! यह कैसी घटना···सुधीर की सारी चेतना को झिंझोड़ती निकल गई···वह रैस्ट्रां में पड़ी मेज़ों की दो क़तारों के बीच खड़ा है। एक हाथ में दो नोट और विजिटिंग कार्ड है···सामने रैस्ट्रां का काउंटर है···

···कुछ ही मिनटों में उसकी आँखों के सामने चलचित्र की तरह उस घटना के सारे स्टिल घूम गए हैं···

१६

रजिया···साधारण नयनक्श, पर बेहद आकर्षक···हर समय ललकती आंखें···बिना गांठों की भरी-भरी देह···इकहरे धागे से बुनी हुई···कंधे पर हाथ रखो तो पैर के अंगूठे का नाखून कांप उठे···पलकों पर होंठ रखो तो पुतलियों से फूटते लावे की गर्मी महसूस हो···शरीर···स्पर्श-सुख अनुपमेय···

उसने एक शाम कहा, "सुधीर, कब चलोगे?"

"जब तुम कहो।"

"तो चलो, अभी चलते हैं, इसी वक्त!"

"होश में हो ?"

"हां, क्यों ?"

"अरे, कहीं ऐसे चला जाता है। कुछ सोचना पड़ेगा।"

"तो सोच लो, मैं आधे घंटे में तैयार होकर आती हूं।"

कहकर वह उठकर चली गई थी और ठीक आधे घंटे में तैयार हो कर आ गई थी।

दरअसल रजिया के अब्वा को पता चल गया था···गली में रहना दूभर हो गया था···रजिया बाप से यह न कह देती कि अगर उसने कुछ भी सुधीर से कहा तो वह ज़हर खा लेगी तो रजिया का बाप मिनट भर में सुधीर को उस गली से भगा देता···पर अब उसे और हथकंड़े अपनाने पड़े···तंग होते सुधीर के कारण ही रजिया ने घर छोड़ने का फ़ैसला कर लिया था···

घर छोड़ दिया था···दूसरे शहर में चले आए थे···पर दूसरा शहर···बसाया था उसने उस शहर में घर···और खुद ही, नहीं, सब के साथ मिलकर उसे चूंट कर फेंक दिया था···तब से उसे घर शब्द से नफरत है···उसे लगने लगा था, घर का मतलब ही सुधीर और रजिया के पास पड़े बिस्तर से होता है···रजिया नहीं तो घर काहे का···जंगल के चारों तरफ दीवारें खींच देने से घर नहीं बनता···वह रजिया के होने का एहसास···

रजिया के अब्वा ने पुलिस में रपट दर्ज कर दी थी और इन्हीं कौल साहब ने···

ठहरो सुधीर···वह सब याद मत करो···माथे की नस फट जाएगी···दरवाज़े पर पड़ी दस्तक की खड़खड़ाहट से रजिया कैसे कांप कर रह गई थी···कुछ ही देर पहले तो कह रही थी वह, "सुधीर, बहुत डर लग रहा है···"

"किससे ?"

"यों ही।"

"मुझसे डर रही हो ? और तो यहां कोई है नहीं।"

रजिया चुप हो गई थी।

"तुम्हें पता है रजिया जब कोई लड़की किसी लड़के [illegible] है, तो

समझो उसे…"

"क्या फिल्मी 'डायलॉग' बोल रहे हो। मुझे तुमसे कभी डर नहीं लगा। तुम्हारा मतलब है—"

और किवाड़ों को किसी ने जोर से भड़भड़ा दिया था…

उसके बाद…

"साहब खड़े क्यों हैं ? बैठ जाइए ना ?"

रैस्ट्रां का मालिक काउंटर से उठकर सुधीर के पास आ गया है, और कह रहा है, "यह कमिश्नर साहब आप के दोस्त हैं ?"

सुधीर जागा है। अपनी स्थिति देखी है, फिर पूछा है, कौन कमिश्नर साहब ?"

"अरे यही, जो अभी आपसे हाथ मिलाकर गए है।"

"कौल साहब !"

"हां-आं, पुलिस कमिश्नर आर० एन० कौल। वही तो थे। आप के दोस्त हैं, शायद ?"

सुधीर समझा। धीरे से बोला, "मैं किसी पुलिस कमिश्नर कौल को नहीं जानता।"

कहकर सुधीर रैस्ट्रां से बाहर निकल आया है। सड़क पर। भीड़ में खोने के लिए। धूप में…

…वह घर की तरफ चल दिया है…

…वह…किस क़दर रोई थी रजिया जब" छोड़ो…क्या याद करना है…

दीवारों से घिरे जंगल की तरफ भागो…चारों तरफ का माहौल जल रहा हो तो जंगल बड़ी राहत देता है…

घर में घुसते ही सुधीर ने सामने कुर्सी पर बैठी रमा से कहा, "पलंग ठीक कर दो; लेटूंगा।"

"क्या हुआ, मुक़दमा बिगड़ गया ?"

"नहीं, तारीख लग गई।"

"तो ?"

सुधीर झुंझला उठा, "जिरह ही करती रहोगी या..."

रमा उठ गई। पलंग ठीक ही था पर सुधीर की यह आदत थी। लेटने से पहले चद्दर वगैरह झड़े नहीं तो उसे बहुत किचमिचा लगता था। रमा पलंग ठीक करती रही और सुधीर एक हाथ दीवार पर टिकाए खड़ा रहा। ठीक हो गया तो बिना कपड़े बदले वह पलंग पर ढेर हो गया। रमा पास खड़ी देखती रही। बोलने का साहस उसमें ऐसे समय में नहीं हुआ। वह जानती है, यह व्यक्ति बहुत से विस्फोटक तत्त्व सिर में छुपाए घूमता है। जिस समय लावा उबल रहा हो उस समय किसी की भी आवाज़ बहुत घातक असर डालती है। पर अन्दर की उत्कण्ठा उसका दम घोंट रही थी। कहीं मुक़दमा तो नहीं बिगड़ गया? पर इस समय कुछ भी पूछना—

"रमा ?"

रमा ज़रा-सा पास खिसक आई।

"एक कृपा करो। कुछ देर के लिए कमरा बाहर से बन्द कर दो और कहीं पड़ोस में बैठ आओ।"

"अच्छा।"

"संदीप और समीर तो स्कूल गए होंगे। कब तक आएंगे।

"काफी देर है उनके आने में। कोई एक घंटा।"

"और संज्ञा ?"

"वह तो शाम तक आती है।"

"ठीक है। तुम जाओ। बच्चे आ जाएं तो आना, बुरा न मानना।"

रमा मुड़ गई। दरवाज़े तक पहुंची कि उसकी आंखें छलछला आईं। वह मुड़ी। पलंग तक पहुंची और एकदम सुधीर पर झुक कर बोली, "क्या हुआ ? बताओगे नहीं।"

सुधीर एकदम ठंडा हो गया। चुप पड़ा रमा की विह्वलता देखता रहा। रमा ने अपनी उंगलिएं सुधीर के बालों में डाल दीं, एकदम उबलते स्वर में बोली, "मुझे नहीं बताओगे ? मुझसे नाराज़ हो ?"

सुधीर ने आंखें मूंद लीं।

"मैं तुम्हें वहुत कष्ट देती हूं ?"

सुधीर धीरे से वुदवुदाया, "नहीं।"

"मेरा मतलव, मेरा यहां होना···"

"पागल···तुम अच्छी हो···राहत हो···सच···पर इस वक्त तुम जाओ···मैं हाथ जोड़ता हूं···

रमा चली गई। वाहर से किवाड़ वन्द कर गई। और दरवाज़ा वंद होते ही सुधीर फफक कर रो उठा। वहुत अर्से वाद आज वह रोया है। कौन जान सकता है, क्यों आज यह रोना फूटा है? खास तौर से कारण क्या है? इतने धागों में उलझा सुधीर मुड़ी उंगलियों से धागों का और उलझते जाना ही देख सकता है। उसकी इच्छा-शक्ति तो जाने कव से समाप्त हो चुकी है। अव तो लगता है आदिम जिजीविषा ने भी चेतना से वाहर चूना शुरू कर दिया है। कितना सुख है, चले जाने में—चुपचाप। तो जाए···पर जाने के लिए जिस इच्छा-शक्ति की जरूरत होती है···वह, हां···रजिया में थी वह···कैसी जीवन्त और जीवनदायिनी रहती थी हर समय···चली गई···उसकी सोच चलती रहती है···

सुनो सुधीर, रजिया की मौत के कारण क्या तुम नहीं थे···

मैं तो खुद मानता हूं। तुम इतनी जोर से चीख कर क्यों कह रहे हो। धीरे बोलो। धीमी आवाज का अर्थ साफ समझ में आता है···

अर्थ? अर्थ समझने की सामर्थ्य तुममें होती तो इतने सारे अनर्थ तुम्हारे गिर्द न घटते···

सुधीर! इस व्यथा से छुटकारा पाना चाहते हो तो···

तो···?

एक ही रास्ता है, खुद से छुटकारा पा लो···

यानी, आत्महत्या कर लूं···

नाम पर न जाओ। नाम भ्रामक होते हैं। हत्या की तो फांसी मिलेगी और आत्महत्या करो तो नरक···पागल लोग···तुम्हारा जीवन है, जीना चाहो जिओ, न जीना चाहो तो···सुधीर, सव अपनी-अपनी जिन्दगी जीते हैं···और उन्हें पूरा अधिकार होना चाहिए कि···

विना मतलव सोच में सिलवटें डालने से कोई फ़ायदा नहीं है···सोच

को जरा-सा सपाट कर लो, ज़िन्दगी भी आसान हो जाएगी और चाहोगे तो मौत भी···

सोचते-सोचते सुधीर का सिर एकदम खाली हो गया···खालीपन बहुत तेजी के साथ फैलता है···रोना तो सोच शुरू होने के साथ ही रुक गया था···शरीर फैलते शून्य में लिपटकर शून्य हो जाता है···कैसी सुखद आत्महत्या है···संवेदनशील प्राणी इस तरह की आत्महत्या शायद रोज़ करता है···अस्थायी···इसीलिए उसे इसका फल नहीं मिलता··· शायद यह स्थायी सार्थक आत्महत्या की रिहर्सल है···या शायद यह चेष्टाहीन आत्महत्या है, इसीलिए न फल देती है न सिद्ध होती है···बस, कुछ घुलता है, कुछ टूटता है और वक्त और शरीर की गर्मी से यथापूर्व होने का आभास देता है···आदमी ज़िन्दा रहता है···सुधीर ज़िन्दा है···

सुधीर सो रहा है···

१७

रमा ने सुधीर को झिंझोड़ कर उठाया। वह ज़ोर-ज़ोर से चीख रही है, "उठो, उठो, पुलिस आई है।"

सुधीर उठकर बैठ गया। सोते-सोते उसने कहा, "पुलिस आ गई।"

अपने ही वाक्य के झटके से वह जागा, उसने देखा, एक सब-इंस्पेक्टर और एक सिपाही उसके कमरे में उसकी कुर्सियों पर बैठे हैं।

इंस्पैक्टर ने उसकी खुली आंखों में झांकते हुए कहा "आप क्या सपना देख रहे थे?"

"नहीं तो।"

"पुलिस आ गई तो आपने ऐसे ही कहा जैसे सपने में इन्तज़ार कर

रहे हों।"

"नहीं, मैं सपना नहीं देख रहा था। कहिए?"

इन्स्पैक्टर मिनट भर उसे देखता रहा, फिर उसने हाथ में पकड़ी फाइल खोली और पूछताछ शुरू की।

"आपका ही नाम सुधीर है?"

"हां।"

"आप किसी आनन्द नाम के व्यक्ति को जानते हैं?"

"आनन्द? आनन्द मेरा दोस्त है। क्या हुआ उसे?"

"आप कल शाम उसके घर गए थे?"

"हां, गया था। फिर? पर हुआ क्या है उसे?"

"क्यों गए थे?"

सुधीर झुंझला उठा, "दोस्त के घर आदमी क्यों जाता है?"

इंस्पैक्टर पल भर चुप रहा, फिर बोला, "कुछ बता सकते हैं, उस समय वह किस 'मैंटल स्टेट' में था।

"मैंटल स्टेट? पर हुआ क्या है उसे?"

इस बार इंस्पैक्टर ने स्वर कुछ अतिरिक्त ठंडा कर लिया। धीरे-धीरे बोला, "आनन्द ने आत्महत्या कर ली। उसका मृत शरीर आज सुबह उसके बिस्तरे पर पड़ा मिला। 'सुइसाइड नोट' तो वहां कोई नहीं मिला पर एक चिट्ठी मिली है जिसमें आपका नाम है···वही चिट्ठी लेकर हम आपके पास आए हैं। चिट्ठी ले लीजिए। हमने भी यह चिट्ठी पढ़ी है। हमें कुछ इसमें अपने काम का नहीं मिला। आप इसे पढ़िए···"

"तो आनन्द ने आत्महत्या कर ली?"

"अभी तक तो यही माना जा रहा है।"

"और क्या हो सकता है।"

"अभी कुछ नहीं कह सकते।"

सुधीर चुप हो रहा।

इन्स्पैक्टर ने फिर कहा, "शाम को पांच बजे आप थाने आइएगा। योंकि आनन्द की चिट्ठी सिर्फ आपके नाम है इसलिए आपका बयान रूरी है। यह चिट्ठी पढ़कर साथ लाइएगा।"

"उसका शव ?"

"वह पोस्टमार्टम के लिए गया है। आप 'क्लेम' करेंगे तो आपको मिल जाएगा।"

इन्स्पैक्टर और सिपाही चले गए।

घर में एक सन्नाटा छा गया।

सुधीर चुपचाप चिट्ठी पढ़ने लगा। लिखा था—

सुधीर,

तुम आए···चले गए···मैं जा रहा हूं···कारण खोजने की कोशिश—मौत का—उतनी ही निरर्थक है, जितनी अर्थ खोजने की कोशिश करना—जिंदगी का—मैंने कोशिश की थी कुछ लिखकर···और इस तलाश को जीवन की सार्थकता मानने लगा था···क्या हाथ लगा···शायद अपने निरर्थक होने का बोध बढ़ा ही···जितना सह सकता था, सहा···अब, इसलिए कि मर नहीं सकता, जी नहीं सकता···हम सब दरअसल जितनी चाहे कोशिश कर लें, दायरे से बाहर आएंगे ही···फिर इतना-सा सन्तोष छीन लेना कि अपनी मर्जी से···समझ गए ?···पर, मैं आज मानता हूं कि यह भ्रम दुनिया का सबसे बड़ा भ्रम है कि कोई तुम्हारी बात समझ सकता है···

ठीक है···

आनन्द

सुधीर का चेहरा एकदम पीला ज़र्द पड़ा है। नज़रें छत के एक कोने में लटकी हुई हैं···

बहुत देर बाद रमा और संज्ञा ने डर कर सुधीर को जगाया है···

प्रतीति

९

आनन्द को निपटे कई महीने बीत गए। इस अर्से में सुधीर लगभग घर में ही बन्द रहा। प्रतिभा के यहां भी कुल तीन बार गया। उसे शायद सुकून की ज़रूरत ही नहीं है…कभी-कभी मानसिक क्लेश में भी एक खास किस्म का मज़ा आता है…फिर प्रतिभा सुकून देती है, तो उद्वेग बढ़ाती भी है…यह गलती तुम्हारी है, सुधीर…प्रतिभा पूरा सुख दे सकती है, तुम यदि दुख के बीज न बोओ…

छोड़ो, यह व्यक्तिगत किस्सा…वह क्या बात याद आ रही थी तुम्हें? जिस पर तुम्हें हंसी आ रही थी। वह…हां, बात तो हंसने योग्य है…सच और झूठ के हाइफन की करामात…वह…

सुधीर अपने कमरे में एक आराम कुर्सी पर बैठा है…सिर कुर्सी की पीठ पर टिकाए…एकदम कहीं डूबा हुआ…खिड़की से आती सूरज की रोशनी में नहाता…घर के सब लोग कहीं बाहर गए हैं…

कुछ याद आ रहा है उसे, और हंसी आ रही है…

कोई एक बात नहीं है…बहुत-सी बातें हैं, गड्डमड्ड…

ये सब लोग कहां गए हैं?

गए होंगे कहीं…कितना सुकून है…अंधेरा होनेवाला है…किवाड़ खोल लें…नहीं, सुकून बाहर निकल जाएगा…

'हां, किवाड खोलने से कोई अन्दर आए न आए कुछ बाहर ज़रूर

निकल जाता है···

वह···रजिया को लेकर उस छोटे शहर में जब वह एक रात के लिए उन वैद्यजी के यहां ठहरा था···वयोवृद्ध वैद्यजी उसके पिता के पक्के दोस्त थे···कट्टर आर्यसमाजी···शुद्धि आंदोलन में, पिता बताया करते थे कितनी ही मुसलमान लड़कियों को वैद्य जी ने उड़ाया, शुद्ध किया और आर्यसमाज मंदिर में हिंदू लड़कों से शादिएं कराईं···प्रचार किया जाता कि ये वह लड़किएं हैं जो पहले हिंदू थीं···वैद्यजी कैसे-कैसे लड़की को नरक से निकाल कर लाए, इसकी अनेक रोमांचक कहानियां सुधीर ने सुनी थीं···उसी सब के भरोसे वह रजिया को लेकर उनके घर पहुंच गया था ···एक-दो रात वहां बिताने के लिए···वैद्यजी ने बहुत स्नेह से उन्हें ग्रहण भी किया था···

पहली रात···

हां, शायद वह पहली ही रात थी जब इस तरह पूरी रात के लिए वह और रजिया, एक ही कमरे में, पास-पास पड़ी दो चारपाइयों पर लेटे थे···कमरा अन्दर से बन्द···कमरे में घुप अंधेरा···भय और निश्चय-हीनता का चिपचिपा-सा वातावरण···दोनों सपाट लेटे थे···

सुधीर ने करवट लेकर···रजिया के चेहरे सिलहुट पर अपना दायां हाथ टिका कर धीरे से कहा था, "रजिया, आज पहली रात है।"

रजिया ने भी करवट ले ली थी। बोली कुछ नहीं थी। चन्दन का स्पर्श सुधीर को उद्दीप्त कर रहा था···

"डर रही हो ?"

"नहीं तो।"

"डरो, डर आदमी को पिघला देता है। तुम्हें मालूम है रजिया, जो आदमी डरता नहीं प्यार नहीं कर सकता। कैसा डर लगता है···"

"तुम्हारे पास आ जाऊं ?"

"अरे पगली, कूदकर···"

दोनों हल्के से हंस दिए थे। कूदकर शब्द को लेकर उनका एक पेटेंट मज़ाक था···भूल-चूक से भी यह शब्द बीच में आ जाए तो दोनों बेपनाह हंसते थे···

रजिया उसकी चारपाई पर आ गई थी···

रजिया चुप थी···

सुधीर ने उंगलियों से उसकी आंखें टटोली थीं···

नहीं, नम नहीं हैं···

"रजिया, देखो, वह, जुगनू···"

रजिया ने देखा था···कमरे के घुप अंधेरे में एक जुगनू फंस गया है···यहां से वहां बाहर निकलने की राह टटोल रहा है···कितना प्यारा लगता है···राह टटोलता हुआ···अपनी ही आग से चमक-चमक कर··· इतने घुप अंधेरे में···

'स्पेस' में लटका एक आदमी···आनन्द का एक वाक्य याद आया है···

लटका नहीं···उड़ता हुआ···

सुधीर रजिया के बिना गांठ के शरीर पर गांठ ढूंढ़ रहा है···

रजिया धीरे-धीरे पगला रही है···

"सुधीर···"

"हूं···"

"आज नहीं।"

"क्यों ?"

"तुम इतनी बहस क्यों करते हो ?"

"तुम हर समय 'ना-नू' क्यों करती हो ?"

"इसलिए कि औरतों को करना चाहिए···"

"तो ठीक है, तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करता हूं···"

कहकर सुधीर ने रजिया के पूरे शरीर को चुम्बनों से गीला कर दिया···जहां कपड़ा आड़े आता वह उसे शरीर पर से उधेड़ कर एक तरफ फेंक देता···सुधीर के होंठों की सख्त पकड़ रजिया के कोमल शरीर पर चकत्ता डाल देती···रजिया सीत्कार भरती, हल्के-से 'जंगली जानवर' या 'शोहदा' कहती और सुधीर से लिपट जाती···

पर उससे पहले रजिया ने कहा, "इस जुगनू को बाहर निकाल दो।"

"इसके आंखें नहीं हैं।"

"मेरे तो हैं। इसे निकाल दो। एहसास रहता है, किसी के होने का।"

"पागल हो?"

"हां, उसे निकाल दो।"

"इसे निकालना आसान काम है?"

"कुछ भी हो, इसे निकाल दो।"

"मैं मारूंगा···पागल···यह भी कोई ज़िद हुई···सारा मज़ा···"

रजिया विफर गई, जोर से वोली, "तुम मुझे मारोगे। मुझे घर से भगा लाए हो तो जो मर्जी आएगी, करोगे···जव मर्जी आएगी, करोगे ···तुम···"

"मैं तुम्हें भगाकर लाया हूं?"

"और नहीं तो क्या? मैं तुम्हें भगाकर लाई हूं? किसी से पूछ लो?"

"रजिया, यह क्या मज़ाक है?"

"पड़ के सो जाओ···दरिंदे कहीं के···कभी चैन किया करो···"

"रजिया! यह क्या है?"

इस वार रजिया खूव जोर से वोली, "घर से ले आए हो तो इसका यह मतलव नहीं है कि वेश्या हूं, जहां चाहोगे दवोच लोगे···चाहे सड़क हो, चाहे वरामदा···सोओ पड़कर और तव तक मुझे न छूना जव तक मुझे मेरे घर में···"

कहकर रजिया सुवककर रो दी थी। घण्टों लगा था सुधीर को उसे शान्त करने में। वच्चे की तरह पुचकार-दुलार कर उसे शान्त किया था, उसको कपड़े पहनाए थे और अपनी ही चारपाई पर छाती से चिपकाकर सुला लिया था···मिनट नहीं वीते थे कि वह सो गई थी···

···हां, वह सो गई थी···अच्छा ही हुआ···उसे कुछ पता नहीं चला वाद की रात में क्या हुआ···पता चलता तो शायद डर से वेहोश हो जाती···

···रजिया सो गई थी, पर उसे फिर नींद नहीं आई थी···ले तो

आया रजिया को, अब कैसे क्या करना है···

···तभी कमरे के किवाड़ खुले···अंधेरे में से ही सुधीर ने पहचाना, दबे पांव वैद्यजी घुस रहे हैं···सुधीर ने सांस रोक ली···रजिया पर उसने एक हाथ रख लिया···

···वैद्यजी घुसे···वह बाहर से आए···अन्दर का कुछ उन्हें नहीं दीख रहा था···टटोलते हुए वह रजिया की खाट तक पहुंचे···सुधीर ने सोचा —अगर यह उसकी खाट होती···वैद्यजी खाट टटोल रहे हैं···खाट खाली है···वैद्यजी सीधे खड़े हो गए हैं···शायद कुछ सोच रहे हैं···क्या करेंगे ?···क्या मालूम···सुधीर सांस रोके लेटा है···

···जुगनू किवाड़ खुलते ही बाहर निकल गया है···

···वैद्यजी उसी तरह काफी देर खड़े सोचते रहे हैं···फिर जैसे आए थे वैसे ही दबे पांव बाहर निकल गए हैं···किवाड़ उढ़काते हुए···

···सुधीर उठा है···किवाड़ अन्दर से बन्द किए हैं···पहले शायद बन्द करना भूल गया था···या शायद जानबूझकर नहीं किए थे···बुरा लगता···वैद्यजी तो अकेले हैं···पूरे मकान में उनके सिवाय कोई नहीं··· बन्द किवाड़ उनके प्रति अविश्वास होता···पिता के दोस्त—वृद्ध—

—क्यों आए थे, वैद्यजी इस तरह ? रजिया के लिए ?

और क्या, पैसे-धेले के लिए आता वह ? शहर का इतना सम्मानित प्राणी—पैसा क्या उसके पास कम है—

पिता के मित्र ?—पिता भी क्या ?—इतने अविश्वसनीय ?

—मैं जाग जाता तो मुझे क्या वे छुरा पिस्तौल दिखाकर चुप करते

—रजिया उसकी खाट पर सोई है—और रजिया की खाट पर वह चुप-सुन्न बैठा है—

···कल कहीं और···

रजिया जागी तब भी काफी अंधेरा था···उसने आंख खुलते ही उससे पूछा है, "तुम उठकर वहां क्यों बैठ गए ?"

"मेरे वहां होने से तुम्हारी नींद खराब हो रही है, मुझे लगा।"

"गुस्सा हो गए ?"

"पगली ! बात ठीक थी तुम्हारी। मैं माफी मांगता हूं। घर में होने वाले काम घर में ही होने चाहिए।"

रजिया उठी। उठकर बैठ गई। कुछ देर सुधीर की तरफ देखती रही, फिर बेहद मीठी आवाज़ में बोली, "तुम्हें मालूम है, तुम्हारे बारे में क्या सोचती हूं ?"

"क्या ?"

"सोचती हूं, ऐसे भी मर्द होते हैं।" कहकर वह खिलखिलाकर हंस पड़ी। हंसी रुकी तो बोली, "अब कर लो।"

"नहीं।...पहले घर..."

रजिया ने अचानक पूछा, "अरे, वह जुगनू कहां गया ? तुम किवाड़ खोलकर बाहर गए थे ?"

"जुगनू मर गया। अंधेरे में।"

कहकर, सुधीर को याद है, वह चारपाई पर लेट गया था और बहुत देर गुम रहा था। रजिया बोलती रही थी। क्या ? उसे कुछ याद नहीं है।

२

भड़ाक् से किवाड़ खुले तो सुधीर कुर्सी पर से ऐसे चौंककर उठा जैसे दरवाज़े से भूचाल की खबर आई हो। संज्ञा की आदत है, वह इसी तरह किवाड़ खोलती है।...और सुधीर को इस बात से सख्त चिढ़ है। संज्ञा घर में घुसी तो पिता के चेहरे पर हक्का-बक्कापन पुता देख वह खिलखिलाकर हंस पड़ी।

"क्या हुआ पापा ?"

"यह कोई किवाड़ खोलने का तरीक़ा है ?"

संज्ञा और हंस पड़ी, "यह तुम हर समय सोते क्यों रहते हो ? हल्के से हल्की आवाज़ तुम्हें डरा देती है।"

"हल्की आवाज़ ! यह हल्की आवाज थी ?"

"बम फटेगा पापा किसी दिन तो तुम्हारा क्या हाल होगा ?" कह-कर उसने ध्यान से सुधीर की तरफ देखा तो और भी खिलखिलाकर हंस पड़ी···इस क़द्र हंसी···इस क़द्र हंसी कि पेट में बल पड़ गए···

सुधीर झुंझलाकर उठ खड़ा हुआ तो एकदम मीठी आवाज़ में बोली, "तुम तो पापा, बस लेखक हो।"

"पगली !"

पर संज्ञा हंसती ही गई और चुप तभी हुई जब रमा को कमरे में घुसते पाया।

रमा ने आदत के अनुसार कहा, "आ गई ?"

संज्ञा को फिर हंसी आ गई।

रमा ने कहा, "बहुत हंसी आ रही है···और तुम खड़े क्यों हो ?··· ऐसे···जैसे स्कूल में सज़ा पाए लड़के खड़े होते हैं।"

सुधीर अन्दर से कहीं बहुत आहत महसूस कर रहा था पर इस संज्ञा से दरअसल वह इतना अधिक प्यार करता था कि कभी इस पर आक्रोश निकाल ही नहीं पाया। फिर भी आज उसे लगा जैसे लड़की एकदम हाथ से निकली चली जा रही है।

बैठकर धीरे से कहा, "यह अशिष्टता है संज्ञा।"

"सॉरी पापा ! पर तुम इतने गुमसुम रहते हो कि सच हंसी आती है और अम्मा हमारी तो वह बीरबल के चुटकुले वाली बात याद दिलाती हैं, वह···क्या कर रहे हो बीरबल ?···तुम्हें याद है न पापा, तुमने ही तो सुनाया था, बचपन में···घर में खड़ा देखेंगी और पूछेंगी, आ गई ?"

"आदमी-आदमी के सम्बन्ध गणित के सपाट फ़ारमूले नहीं होते और हर वाक्य का अर्थ उस वाक्य के अर्थ से अतिरिक्त भी कुछ होता है···" सुधीर ने गम्भीर स्वर में कहा।

"दर्शन छोड़ो पापा, ये सब उलझाने वाली बातें हैं। जब कुछ समझना न चाहो तो इस तरह के वाक्य बोल दो। मेरी इन-बिना कते रूअड़ के जालों में कोई रुचि नहीं है···और गणित उतना सपाट नहीं होता जितना तुम समझते हो। कितनी उलझनों के बाद एक फारमूला बनता है, पर गणित के लोग दो को ढ़ाई और माइनस को प्लस कभी नहीं कहते। जो होता है, देखते हैं और वही कहते हैं। दूसरी बात कि गणित के फारमूले उलझन सुलझाते हैं, और उलझाते नहीं···पर पापा, आई एम रीयली सॉरी···तुम जानते ही हो मैं तुमसे कितना प्यार करती हूं, और हंसता आदमी उस पर है जिसे···एक कप चाय पिला दो न मां···मुझे अभी जाना है···और मैं सुबह आऊंगी।"

"सुबह ?"

"हां पापा, हम लोगों ने एक प्रोग्राम बनाया है। आज सारी रात उसकी तैयारी होनी है।"

"कैसा प्रोग्राम ? रात को बाहर रहेगी ?" रमा ने थोड़ा घबराकर पूछा।

संज्ञा फिर हंस दी, बोली, "अम्मा जी, रात और दिन में कोई मौलिक फ़र्क नहीं होता। हर वह काम जो रात में हो सकता है, दिन में भी हो सकता है···और·· पापा, मैं जाऊं ?"

"हां-हां, क्यों नहीं, ज़रूर-ज़रूर !"

"तुम्हें मुझ पर विश्वास है न पापा ?"

"अरे, पगली ! सौ फीसदी, बल्कि दो सौ फीसदी। मैं तुमसे प्रभावित हूं संज्ञा···तुमसे, सच मानो, कुछ सीखना चाहता हूं पर मेरी बुद्धि कुछ कुंद···"

"एक बात कहूं पापा ?"

"कहो।"

"तुम फिर से नौकरी कर लो।"

सुधीर थोड़ा हतप्रभ हुआ। इतना सीधा प्रस्ताव उसको कभी कोई देगा, इसकी उसे आशा नहीं थी। प्रतिभा ने एक दिन कहा था पर बहुत घुमा-फिराकर—नौकरी करने में हर्ज क्या है, सभी करते हैं, इत्यादि

इत्यादि, रमा ने कभी नहीं कहा···पर संज्ञा···!

संज्ञा ने सुधीर को सोचते देखा तो एक और चोट की, "हां पापा, सब जगह अपमानित होने से अच्छा है आदमी एक जगह अपमानित हो। फिर एक जगह आदमी लड़ सकता है, सब जगह लड़ते घूमना बहुत नुक़सानदेह है···बुरा न मानना अगर मैं कहूं कि तुमसे पैसे लेकर खर्चते मुझे शर्म आती है···कालिज की फीस, बदन के कपड़े···सब···जब तक समझते नहीं थे, तब तक ठीक था, पर अब···तुम्हें मालूम है पापा, तुम्हारे मन में यह इतना सारा धुंध क्यों रहता है ?"

सुधीर की पलकें गीली हो गई थीं। वह कुछ नहीं बोला, बस संज्ञा की तरफ नज़रें उठा दीं—

संज्ञा ने देखा। पर उसके मन में सहानुभूति की जगह वितृष्णा उभरी। स्वर तीता हो उठा, "क्योंकि तुम चलते आगे हो और देखते पीछे हो। जो है उसकी चुनौती से बचने के लिए हमेशा जो नहीं रहा उसे साथ रखते हो। ऐसे सिर नहीं चकराएगा तो क्या होगा ?"

रमा भौंचक्की थी, चीखकर बोली, "संज्ञा !?"

पर संज्ञा हतप्रभ नहीं हुई। क़द को और ऊंचा करके बोली, "ठहरो मां, मुझे इनसे बात करने दो, ये मेरे पापा हैं। मैं इनके रुपये पैसे की ही नहीं, इनके कर्मफल की भी उत्तराधिकारिणी हूं, मुझे इनसे बात करने का हक़ है। मैं इनकी लड़ाई अपने कन्धों पर लेने को तैयार हूं, अपने को तैयार कर रही हूं···पर पहले समझ तो लूं, इनकी लड़ाई है क्या ? अन्दर बाहर की धुंध के कारण ये निकम्मे हैं या इनके निकम्मेपन के कारण यह धुंध पैदा हुई है···पर···मां, चाय नहीं पिलाओगी···रहने ही दो। देर हो जाएगी···मैं जाऊं पापा ?"

"हां।"

रमा ने पूछा, "सुबह किस वक़्त आएगी ?"

"मां, बस, सुबह होते ही।"

और संज्ञा चली गई। उसके निकलते ही रमा ने सुधीर से कहा, "तुमने इस लड़की को बहुत सिर चढ़ा रखा है।"

अब तक सुधीर संभल गया था, बोला, "हमला मुझ पर बोल कर

गई है, तुम्हें कष्ट क्यों ?"

"ऐसे बोलना चाहिए, बाप से ?"

"सच बात का बुरा नहीं मानना चाहिए रमा जी। काश ! तुममें सच बोलने की इतनी ताक़त होती तो मेरी—"

"अरे छोड़ो, घर से निकाल देते।"

सुधीर भावुक हो उठा, "नहीं रमा, ऐसा हो ही नहीं सकता था। मैंने इसे कभी सिर्फ अपना घर नहीं समझा।" कहते-कहते सुधीर ने सामने खड़ी रमा का हाथ अपने हाथ में ले लिया और धीरे-धीरे उसे सहलाने लगा।

यह क्या होता है ? शरीर का स्पर्श मन के लिए साबुन का काम करता है। रमा के मन का सारा मैल अचानक घुलकर साफ हो गया। चेहरे पर एक दीप्ति उभरी। वह सुधीर के और पास खिसक आई। फिर धीरे से, और लाड़ से बोली, "आजकल बड़े संत हो रहे हो ? बात क्या है ?"

"बात क्या होती ?"

रमा हंस दी, "मेरा मतलब, भूख मर गई है या खुराक कहीं और मिल रही है ?"

"और कहां ?"

"यह भी मैं ही बताऊं ? आदमी का कुछ पता लगता है ?"

"ऐसा आदमी हूं मैं ?"

"बहुत सीधे भी नहीं हो। और फिर आदमी तो सिर्फ आदमी होता है..."

सुधीर हंस पड़ा, "अब तुमने सच बोलना शुरू कर दिया ?"

रमा को भी हंसी आ गई। फिर कुछ सोचती-सी बोली, "मैं संज्ञा के सच को सच नहीं मानती। मैं जानती हूं, तुमने पिछले सालों में कितनी मेहनत की है।"

"जो जैसे जानता है, उसी को सच मानता है। आदमी को अपना सच ही बोलना चाहिए। मुझे खुशी है कि संज्ञा में अपना सच बोलने की हिम्मत है। दूसरे का सच बोलनेवाले या मूर्ख होते हैं, या धूर्त ! तुम

चिन्ता न करो संज्ञा की अम्मा, लड़की तुम्हारी होनहार है।"

"और मैं ?" रमा ने सुधीर को उकसानेवाली अदा से कहा।

"तुम ? तुम दरअसल न मूर्ख हो, न धूर्त और बदकिस्मती से न होनहार…!"

"तो ? क्या हूं ?"

"बस, औरत हो।"

"औरत तो मूर्ख भी होती है और धूर्त भी ? होनहार चाहे न भी हो।"

"फिर, इसका मतलब हुआ कि तुम औरत भी नहीं हो।"

"धत्…!"

सुधीर भड़क उठा। बोला, "देखोजी, हमें यह औरतों वाला धत्-धत् बिल्कुल पसन्द नहीं है। जो चाहिए साफ बोलो, मुंह से, नाम लेकर!"

"हुंह! पागल कहीं के, नाम लेकर ?"

पर उससे पहले कि दोनों के बीच की 'कोल्ड वॉर' असली संघर्ष का रूप ले संदीप और समीर कूदते-नाचते कमरे में प्रविष्ट हुए। देखते ही दोनों बीच से फट गए। चेहरे विकृत हो गए। रमा तो जरा रुककर हंस दी, पर सुधीर का मन गहरी वितृष्णा से भर उठा। संज्ञा की बातों ने जीवन के प्रति जिस संचित वितृष्णा को खौला दिया था और जिसे वह शरीर से निचोड़कर निकालने की तैयारी कर रहा था वह अचानक सिटकनी गिर जाने के कारण शरीर-रंध्रों में तेजाब की तरह रिसने लगी। सिघड़ते शरीर से वह उठा और कपड़े बदलने लगा। कहीं जाने के लिए।

"कहीं जा रहे हो ?" रमा ने पूछा।

"हां।"

"कहां ?"

"कहीं भी।"

"इस वक्त ? शाम होनेवाली है।"

"तो और यहां बैठकर क्या करूं ?"

"कुछ लिखो।"

"हुंह! कुछ लिखो! इतने उल्लूपाड़े में लिखा जाता है।"

"हमेशा लिखते रहे हो।"

"वह सब नहीं करना चाहता जो हमेशा करता रहा हूं।"

"तो और कुछ करो।"

"कुछ नहीं करना मुझे।"

"इन दोनों को भेज दूं ?" रमा कहकर हंस दी।

"रमा ! तुम्हें मेरा मज़ाक उड़ाने का कोई हक़ नहीं है।"

रमा और जोर से हंस दी, बोली, "क्यों बच्चों की तरह रूठ रहे हो। अभी तो कह रहे थे—मैंने कभी नहीं माना, घर सिर्फ मेरा है। अब···"

"झगड़ा करना चाहती हो ?"

"हां।"

"तो करो, मैं जा रहा हूं।"

रमा को उदास खड़ी छोड़ सुधीर घर से बाहर निकल आया।

शाम का वक़्त। सूरज डूब रहा है। कालोनी का पूरा विस्तार एक सुन्न उदासी से आक्रान्त है। क़तार में खड़े आदमी उदास हो जाते हैं। क़तार में खड़े क्वार्टर उदास है। धूप-बारिश ने रंग मटमैला कर दिया है। पीला तो पहले ही था। उनके आसपास खड़े खजूर अपनी ऊंचाई के कारण उदास दीखते हैं। मुसर्रत पानवाले की दुकान पर कोई ग्राहक नहीं है। रेल की पटरी पुलिया के नीचे झांकने की कोशिश कर रही है। पुलिया के नीचे से नहीं जाना। पगली बैठी होगी, रमा की धोती में लिपटी। पीठ इस तरफ होगी तो रमा का आभास देगी। ग़लती की रमा ने। अपनी धोती नहीं देनी चाहिए थी। उधर से निकल चलते हैं। लाइनों के ऊपर से। नहीं। चटर्जी का घर है। बाहर बैठा होगा। होगा तो चिपट जाएगा और वह न इस क़ैद से बाहर जा सकेगा न घर की क़ैद में वापिस। रमा उदास हो गई थी। हो जाने दो। पूरा माहौल उदास है। पुलिया के नीचे से ही चलते हैं। पगली चटर्जी से ज़्यादा समझदार है। हां, यह ठीक है। चलो।

सुधीर ने डूबते सूरज को देखा। किसी के हल्के नीले स्निग्ध शरीर से बहते कोढ़ का गोल चकत्ता···मन के विष को इतनी दूर मत उछालो सुधीर, अपने अन्दर के चकत्ते औरों के शरीर पर मत चिपकाओ। खूबसूरती की तरफ से आंखें मूंद लो पर बदसूरत नजरों से देखकर उसे बदसूरत मत करो। सुधीर, तुम्हारे अन्दर के नासूर बदबू फैलाने लगे हैं। इस नासूर होते शरीर की बलि दे दो। वातावरण उपकार मानेगा। तुम भी शापमुक्त हो जाओगे···फैसला लो और कुछ पल निष्कृति की सांस लो···जैसे आनन्द ने किया है···पर तुम्हें ऐसा दुःख क्या है, भूल जाओ, जो बीत गया···भूल जाऊं ? पर कैसे भूल जाऊं ?···क्या तरीका है, उसका ···भूल जाने का···सिवाय उसके जो आनन्द ने अपनाया।

अरे ! यह आज इस चिमनी का धुंआ इतना गाढ़ा क्यों है ? धुंआ नहीं, धुएं का रंग···हमेशा तो सुनहरा पीला होता है···कहीं-कहीं लाल दाने लिए···आज एकदम उन्नावी है, खून के रंग जैसा···जमा हुआ खून ···खून, जमा हुआ, धुंआ बनकर उड़ रहा है, आसमान में···चिमनी के नीचे कोई दैत्याकार मानव खून की उल्टिएं कर रहा होगा···उसे भाप बनाकर उड़ाया जा रहा है···मानव-समाज को नुक़सान न हो इसलिए···

प्रतिभा के यहां चलें···

इस वक्त ?

सवाल ही पैदा नहीं होता।

बहुत दिनों से गया नहीं। विष इसीलिए पूरे सिर में भाप बनकर भर गया। नहीं···?

वही है जो उसे इस जुगुप्सा के प्रभाव से बचा सकती है···

पर···

फोन करके देखते हैं···

पुलिया पार हुई। गली पार की और सुधीर मेन रोड पर आ गया। उसने एक लम्बी सांस ली और बाहर फेंकी, जैसे पूरी कालोनी को शरीर में से खींचकर बाहर फेंक रहा हो···

फोन करूं—उसने खुद से पूछा।

३

प्रतिभा ने फोन पर कहा, "जरूरी हो, तो कुछ देर के लिए आ सकते हो, खुशी से।"

सुनकर सुधीर दंग रहा गया। उसे आशा नहीं थी। शायद।

वह प्रतिभा के घर की तरफ भाग लिया···

···पर प्रतिभा को लेकर अनेक प्रश्न···उसके अनेक बिम्ब··· उसकी अनेक भंगिमाएं···उसके दिमाग़ के भंवर में डूबने-उतरने लगे···

कौन है प्रतिभा ? क्या सम्बन्ध है इसका उससे ? क्या वह उससे प्रेम करने लगा है ? प्रेम ? अभी कुछ ही दिन पहले तो वह इस शब्द का भरपूर मज़ाक उड़ा रहा था···आज इस तरह मोहान्ध हो उठा है···उसे प्रेम है उससे या वह उसमें चल रही किसी अतीन्द्रीय प्रक्रिया को उद्दीप्त करती है और उसे मानसिक सुख देती है···या सिर्फ रूप का छलावा उसे जकड़ बैठा है···या उसका धन, उसकी सामाजिक स्थिति उसे अपनी ओर खींचती है···क्यों जी करता है, हर समय, कि उसके सामने मन के सब भेद, सब गांठें खोल दे···खुद को नंगा कर दे···डरकर वह हमेशा के लिए मिलने से मना कर देगी यह खतरा मोल लेकर भी···वह उससे घृणा कर सकती है ? क्यों नहीं कर सकती···यदि करने लगी तो क्या करोगे? ···कहना मुश्किल है···पर···

···उस दिन धूप में बैठे थे बाहर···सिर हल्का-सा झुका रखा था उसने···चेहरे के दोनों तरफ बाल लटक रहे थे···मांग में से फटकर··· सुनहरा नशीला पेय···लहरें लेता···

उसने पूछा था, "प्रतिभा, क्या कभी ऐसा हो सकता है कि तुम भी मुझसे प्रेम करने लगो ?"

"नहीं, कभी नहीं हो सकता। यह आशा कभी मत करना सुधीर, मैं···?"

"हां, क्या ? रुक क्यों गई ?"

"मैं शायद किसी से प्रेम नहीं कर सकती। कभी कर भी नहीं सकी…"

"क्या मतलब ? कभी नहीं।"

"ना ?"

"क्यों ?"

"क्यों क्या ? नहीं कर सकी, बस।"

"मेरा मतलब, आज तक कोई पुरुष पसन्द नहीं आया ?"

"नहीं, ऐसा नहीं है। एकाध आदमी अच्छा लगा…पर…मैं कह नहीं सकती…शायद प्रेम में इन्तज़ार बहुत करना पड़ता है…और वह मेरे बस का नहीं है…बहुत धैर्य चाहिए प्रेम करने के लिए…मुझमें धीरज की कमी है…शायद वैसे मुझे ठीक मालूम नहीं…अपने बारे में मैं कम ही सोचती हूं।"

पर सुधीर उस दिन सोचता रह गया था। यह प्रतिभा अपने बारे में हमेशा उल्टा क्यों बोलती है…मुझमें धैर्य नहीं है…किसी के लिए रोना-धोना मेरे बस का नहीं है…मैं तो मानती हूं कि आदमी सिर्फ शरीर है, और कुछ नहीं। ये मन, चित्त प्रेम आदि शब्द मिथ्या हैं…वगैरह-वगैरह; पर धैर्य उसमें कितना है, सुधीर जानता है, अपने अनुभव से…किसी भी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे के लिए उसका 'कन्सर्न' देखकर कभी-कभी उसे पागल कहने को जी करता है। घर की नौकरानी को लेकर एक दिन इतना ऊधम मचाया कि पूरा घर परेशान हो गया…किस्मत के मारे सुधीर का फोन उसी समय पहुंच गया तो उसे भी एक तरफ को दौड़ा दिया…समस्या हल हो जाएगी तो या तो उस पर इतना हंसेगी कि लगेगा हर संकट इसे रस देता है, या फिर जिसके लिए कुछ करेगी उसे इतनी जली-कटी सुनाएगी कि भावना का सारा रंग घुल जाए… सुधीर से कहेगी—देखो भाई, मैं रोज़-रोज़ मिलने के खिलाफ़ हूं। मेरे पति कुछ नहीं कहते, इसका मतलब यह नहीं है कि इसका तुम नाजायज फायदा उठाओ…और यह रोज़ विह्वल आवाज़ में मुझे फोन मत किया करो…मुझे रहम आ जाता है और तुम समझते होगे कि…यह साफ-

साफ 'इमोशनल ब्लैकमेल' है···फिर अचानक कहेगी, "और मैं मर गई तो किसे 'ब्लैकमेल' करोगे इस तरह, और कौन होगा, पागल, जो तुम जैसे मूर्ख आदमी से 'ब्लैकमेल' होगा।"

"मैं तुम्हें ब्लैकमेल करता हूं ?"

"जो तुम करते हो, उसे ब्लैकमेल नहीं कहते ? और क्या कहते हैं ?"

सुधीर सुन्न रह गया था···

एक दिन बोली थी, "रात हमारे यहां डिनर था।"

सुधीर ने हंसकर कहा, "तो ऐश रही होगी, खूब···"

"जरा बैरे को बुलाना सुधीर, कुछ खाऊंगी, भूख लगी है।"

बैरे को बुलाकर सुधीर ने पूछा था, "डिनर भूख बढ़ा देता है क्या ?"

"हां। घर के 'डिनर' के अगले दिन जब भी मिलोगे, मुझे भूखा पाओगे।"

"क्यों ?"

मिनट भर चुप रहकर अचानक बोल उठी थी, "छोड़ो, तुम्हारी समझ में नहीं आएगा। पर यह समझ लो कि जिस दिन घर में डिनर होता है, मेरे मुंह में कौर नहीं चलता···बैठना तो साथ पड़ता ही है··· खाने का नाटक करना मन को और भारी कर देता है···प्लीज़ सुधीर, ऐसे मत देखो मेरी तरफ। मैं सच कह रही हूं···"

सुधीर चुपचाप उसकी तरफ देखता रहा था।

वही फिर बोली थी, "तुम्हें मालूम है, मुझे उन लोगों से चिढ़ है जो पंडाल के बाहर खड़े रहकर फिकी झूठन इकट्ठी करते हैं। पर कभी-कभी सोचती हूं, घृणा तो उनसे करनी चाहिए जो पंडाल के अन्दर होते हैं, खोखले ठहाके एक-दूसरे पर उछालते हैं और बेतौल दारू और षट् रस व्यंजन पेट में उंडेलते जाते हैं और मैं उनमें से एक हूं···मुझे अपने-आप से नफरत है, सुधीर···"

सुधीर ने आत्मिक वासना से उसकी तरफ देखा था···

···और एक दिन अचानक पूछ बैठी थी, "तुम मुझसे बहुत प्रेम करते हो ?"

सुधीर ने देखा था, उसकी आंखें लहक रही हैं…

कहा था, "हां।"

"प्रेम में तो आदमी सभी कुछ करता है?"

"हां, सभी कुछ। जो कहो, करने को तैयार हूं।"

"मरने में मेरी मदद कर सकते हो?"

"दोनों एक रेस्ट्रां में बैठे थे। हमेशा आमने-सामने की कुर्सियों पर बैठते थे। बराबर-बराबर कभी नहीं बैठे। सुधीर ने देखा, उसका एक हाथ बीच की मेज पर पड़ा है। बात सुनकर सुधीर अन्दर तक हिल-पिघल गया था। मेज पर पड़े छोटे-से हाथ को अपने लम्बे-चौड़े हाथ से पूरी तरह ढककर उसने कहा था, "साथ चल सकता हूं। प्रतिभा, बता देना। मन में एक पल के लिए भी दुविधा आई तो फिर कभी तुम्हारे सामने नहीं आऊंगा। सच।"

कई मिनट प्रतिभा चुप रही थी…अन्दर के विभोर भाव पर बांध बांधती…फिर खिलखिला कर हंस दी थी…सुगन्धित मीठी हंसी…

बोली थी, "बच्चा हो, एकदम बच्चा।"

सुधीर ने समझा था, वह कह रही है, वह झूठ बोल रहा है। उसने जोर देकर कहा था, "मैं एकदम सच कह रहा हूं, प्रतिभा…"

"अरे वह नहीं, मुझे विश्वास है—तुम पागल हो…मैं कह रही थी, एकदम बच्चा हो…मेले का नाम लिया नहीं कि कपड़े पहनने शुरू कर दिए…जैसे बस, बाहर कोई हार्न देकर बुला रहा है…"

इस बार सुधीर को भी हंसी आ गई थी। उसने अपना हाथ उठा लिया था, कहा था, "बड़ी क़िस्मत से नसीब होता है…"

सुधीर ने बस बदल ली है। वह प्रतिभा के पास जा रहा है। उसके मन के मैल को धोने के लिए यह अमूर्त्त आश्वासन ही बहुत होता है। वह वहां तक पहुंचते-पहुंचते आधा तो ठीक हो ही जाता है। तभी उसे वे सब बातें भूल जाती हैं जो उसने अन्दर व्याप्त विषाद के दबाव में सोची होती हैं। उसके दीखते ही नया कुछ सोचने की जल्दी में दिमाग़ एकदम

शून्य में भटकता रह जाता है। हर वार उसे इस वात को लेकर शर्मिंदगी उठानी पड़ी है। उसने यह कहकर प्रतिभा से मिलना तय किया है कि वहुत ज़रूरी वातें करनी हैं और मिलने पर वह कुछ वात नहीं कर पाया है और प्रतिभा ने···

पर आज वह एक प्रश्न पूछने जा रहा है और पूछ कर रहेगा···

सुधीर प्रश्न रट रहा है···इधर-उधर की वात करने से पहले ही प्रश्न सामने पटक देगा···तभी उसके दम में दम आएगा···

रात के चितकवरे अंधेरे में पहली वार सुधीर उस कोठी में घुस रहा है। धरती के ऊपर, पेड़ों की गहरी छाया में वनी एक वंकरनुमा चीज़···रोश-निएं अपारदर्शी शीशों से झांकती हुई···कॉरीडोर अंधेरा···सीढ़ियां जगमग···

तेज चलता हुआ सुधीर ऊपर पहुंचा और वैल दवा दी···

वही ड्राइंग-रूम···वही सैटिंग···फर्क सिर्फ प्रतिभा के रंग में··· मोतिया में हल्के आसमानी की झलक···कपड़े भी दूसरे···हरी सलवार, हल्के प्रिंट का लम्वा कमीज़···हरी चुन्नी···एकदम छोटी-सी लड़की लग रही है···वालों को पीछे रवर के छल्ले में अटका रखा है···गांव की औरतों की तरह···छोटा-सा चेहरा रोशनी की तरफ···वड़ी-वड़ी आंखें प्रश्न भाव से उस पर···

नहीं, उसे यह सव नहीं देखना···उसका प्रश्न···

वह वैठ गया और विना उसके वैठने का इन्तजार किए प्रश्न की चेतावनी फूंक दी···

"एक वात पूछने आया हूं।"

"क्या हुआ ?"

"हुआ कुछ नहीं, वस एक वात है जो वहुत परेशान कर रही है, और···"

"पूछो। तुम्हारे इस तरह इस वक्त आने पर जो कहना होगा, मैं बाद में कह लूंगी। पूछो···"

पल को सुधीर का उत्साह अचेत हुआ···फिर उसने अपनी इच्छा-शक्ति को जगाया और प्रश्न दाग़ दिया, "मैं पूछने आया हूं कि तुम्हारी तरफ से मेरे-तुम्हारे सम्बन्ध का आधार क्या है?"

प्रतिभा हंस दी, "बस, यही पूछने आए हो?"

"हां, और यह 'बस यही' नहीं है, मेरे लिए ज़िन्दगी-मौत का सवाल है···मैं एकदम 'सीरियस' हूं···"

"तुम क्या सोचते हो, क्या आधार हो सकता है?"

सुधीर का स्वर जरा कर्कश हो उठा, "देखो प्रतिभा, इधर-उधर मत करो···जरा 'सीरियस' नहीं हो सकतीं?"

"चलो, हो जाती हूं। पर ऐसे आनन-फानन कहीं सम्बन्ध शब्दों में बांधे जा सकते हैं।"

"नहीं जवाब देना तो साफ कहो। मैं चला जाता हूं···"

प्रतिभा चुप बैठी रह गई···अजब पागल आदमी है···इतनी दूर से यह जरा-सी बात पूछने चला आया···उसने कभी इस तरह सोचा भी नहीं···यह उसका स्वभाव भी नहीं है···सम्बन्ध उसके लिए बहस का विषय कभी भी नहीं रहे···बस, उगते-फलते-फूलते पौधे होते हैं—जिंदा। बड़ा हो गया तो रस देता है, आनन्द देता है···बड़ा नहीं हुआ तो नहीं हुआ, जड़ से उखाड़ो और बाहर फेंक दो···घर में कूड़ा-करकट इकट्ठा करने के पक्ष में वह कभी नहीं रही, ना ही आज है···मरे हुए पौधों को खाद की तरह इस्तेमाल करने से उसे सख्त नफरत है···और यह पागल आदमी···पौधे की जड़ में तेजाब डलवाने आ गया है और खुद उसके हाथों···पर कुछ न बताया तो कहीं पूरे आदमी की जड़ में तेजाब···

···वह कौन-सा कवि था संस्कृत का—हां, कालिदास—जिस डाली पर बैठेंगे उसी को काटेंगे···

याद करके उसे हंसी आ गई···वह कुछ हल्की हो गई···

बोली, "अच्छा, ठीक है, बताती हूं। चाय बनाती हूं। साथ-साथ सोचती जाऊंगी। वक्त भी ज़रा कम है। विपिन ··· के

सामने तुम्हारी ये ऊलजलूल बातें···

कहकर वह चाय बनाने रसोईघर में चली गई।

पर रसोईघर में पहुंचते-पहुंचते उसका मन बहुत खिन्न हो उठा।··· क्या बताऊं सुधीर को ? यह आदमी क्यों नहीं समझता कि···

पर बताना तो कुछ न कुछ पड़ेगा···और झूठ नहीं होना चाहिए··· ऐसे आदमी से झूठ नहीं बोला जाता···तो ?

ज्यों-ज्यों प्रतिभा के मन की दुविधा बढ़ती रही उसके अन्दर का आक्रोश भी बढ़ता रहा। यह सुधीर हर बार उसे किसी न किसी संकोच की स्थिति में डाल जाता है। अच्छी मित्रता है। रात को यह बात पूछने चले आए। यह कोई वक्त है। ठीक है, विपिन और मेरा विश्वास खूब मज़बूत है पर अकारण उसे हल्की से हल्की चोट पहुंचाने से भी फायदा··· मानती हूं, सुधीर के साथ बैठना—बात करना मुझे अच्छा लगता है पर···

चाय बन गई। रसोईघर के आधुनिक साधन गृहणियों को सोचने का बहुत ही कम वक्त देते हैं···प्रतिभा तो खैर यहां आना पसन्द ही नहीं करती···सिर्फ अपने व्यक्तिगत मित्रों को चाय खुद बनाकर पिलाना उसे अच्छा लगता है, बाक़ी सब काम नौकर ही करता है···चाय लेकर प्रतिभा को ड्राइंग-रूम में आना पड़ा···

ड्राइंग-रूम में चाय के प्याले मेज़ पर रखकर प्रतिभा ने सुधीर की तरफ देखा, और देखती रह गई···यह क्या हुआ इसे···क्या हुआ ?

यह कैसा चेहरा है ?

एकदम स्याह···लिसलिसा···और आंखें जैसे घंटों तक रोकर चुकी हों···उबली-उबली···

बैठकर चाय सुधीर के हाथ में थमाती हुई प्रतिभा बोली, "क्या बात है सुधीर ?"

पर अपना ही स्वर सुनकर प्रतिभा खुद चौंक उठी। स्वर स्नेह और करुणा से सराबोर था···

सुधीर ने भी ज़रा चौंककर प्रतिभा की तरफ देखा। पर उसकी तरफ देखते ही उसने अपनी बात दोहरा दी, "मेरी बात का जवाब दो प्रतिभा,

वक्त कम है, तुम कह रही थीं…"

"चाय पिश्रो।"

"हूं। वह तो पी रहा हूं।"

"आज कोई नई बात घटी है ?"

सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, मेरे जीवन में, पूरे जीवन में, कोई घटना पूरी नहीं घटी। घटना का अधूरापन बहुत त्रास देता है…"

"वही मैं कह रही थी सुधीर। इसी अधूरेपन ने तुम्हारे व्यक्तित्व को एक खास किस्म की तरलता दी है; तुम्हारे चेहरे पर हर समय दुख की, पश्चात्ताप की एक झीनी-सी पतरी चढ़ी रहती है। उस पतरी में से तुम्हें, तुम्हारी 'सिनर्स सोल' को देखना बहुत मोहक लगता है…बहुत कम लोगों में 'गिल्ट' से उद्दीप्त चेतना दिखाई देती है…अपराध सभी करते हैं, पर 'गिल्ट' और वह भी पूरे व्यक्तित्व पर छाया हुआ…बस, वही मुझे तुम्हारी तरफ खींचता है…मन करता है, तुम्हारे इस 'गिल्ट' को शेयर करूं…"

"प्रतिभा !" सुधीर ने द्रवित कंठ से पुकारा।

"क्या ?"

"मैं तुम्हारे सामने 'कन्फ़ैस' करना चाहता हूं। अपने अन्दर का सब कुछ उंडेल देना चाहता हूं…जो-जो अपराध मैंने किया है, वक्त दोगी…?"

"जरूर। उससे तुम्हें शांति मिलेगी ?"

"शांति नहीं प्रतिभा, शायद रास्ता मिल जाए…दरअसल खुद से बोलते-बोलते मैं तंग आ गया हूं…बोलो, मेरी बात सुनोगी ?"

"जरूर सुनूंगी सुधीर और वह मेरे लिए सुख की बात होगी।"

"सुनने के बाद मुझसे घृणा तो नहीं करने लगोगी ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" प्रतिभा ने बेहद आत्मविश्वास के साथ कहा।

"शुक्रिया। ठीक है। चलता हूं। जब वक्त दोगी ?"

सुधीर के साथ-साथ प्रतिभा भी उठकर खड़ी हो गई। उठते-उठते उसने कहा, "सुधीर, एक बात…खुद को 'कन्फ़ैस' करते हुए यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसे सुनकर किसी में क्या भाव पैदा होता है। इस

सामने तुम्हारी ये ऊलजलूल बातें···

कहकर वह चाय बनाने रसोईघर में चली गई।

पर रसोईघर में पहुंचते-पहुंचते उसका मन बहुत खिन्न हो उठा।··· क्या बताऊं सुधीर को ? यह आदमी क्यों नहीं समझता कि···

पर बताना तो कुछ न कुछ पड़ेगा···और झूठ नहीं होना चाहिए··· ऐसे आदमी से झूठ नहीं बोला जाता···तो ?

ज्यों-ज्यों प्रतिभा के मन की दुविधा बढ़ती रही उसके अन्दर का आक्रोश भी बढ़ता रहा। यह सुधीर हर बार उसे किसी न किसी संकोच की स्थिति में डाल जाता है। अच्छी मित्रता है। रात को यह बात पूछने चले आए। यह कोई वक्त है। ठीक है, विपिन और मेरा विश्वास खूब मजबूत है पर अकारण उसे हल्की से हल्की चोट पहुंचाने से भी फायदा··· मानती हूं, सुधीर के साथ बैठना—बात करना मुझे अच्छा लगता है पर···

चाय बन गई। रसोईघर के आधुनिक साधन गृहणियों को सोचने का बहुत ही कम वक्त देते हैं···प्रतिभा तो खैर यहां आना पसन्द ही नहीं करती···सिर्फ अपने व्यक्तिगत मित्रों को चाय खुद बनाकर पिलाना उसे अच्छा लगता है, बाक़ी सब काम नौकर ही करता है···चाय लेकर प्रतिभा को ड्राइंग-रूम में आना पड़ा···

ड्राइंग-रूम में चाय के प्याले मेज़ पर रखकर प्रतिभा ने सुधीर की तरफ देखा, और देखती रह गई···यह क्या हुआ इसे···क्या हुआ ?

यह कैसा चेहरा है ?

एकदम स्याह···लिसलिसा···और आंखें जैसे घंटों तक रोकर चुकी हों···उबली-उबली···

बैठकर चाय सुधीर के हाथ में थमाती हुई प्रतिभा बोली, "क्या बात है सुधीर ?"

पर अपना ही स्वर सुनकर प्रतिभा खुद चौंक उठी। स्वर स्नेह और करुणा से सराबोर था···

सुधीर ने भी ज़रा चौंककर प्रतिभा की तरफ देखा। पर उसकी तरफ देखते ही उसने अपनी बात दोहरा दी, "मेरी बात का जवाब दो प्रतिभा,

वक्त कम है, तुम कह रही थीं…"

"चाय पिओ।"

"हूं। वह तो पी रहा हूं।"

"आज कोई नई बात घटी है ?"

सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, मेरे जीवन में, पूरे जीवन में, कोई घटना पूरी नहीं घटी। घटना का अधूरापन बहुत त्रास देता है…"

"वही मैं कह रही थी सुधीर। इसी अधूरेपन ने तुम्हारे व्यक्तित्व को एक खास किस्म की तरलता दी है; तुम्हारे चेहरे पर हर समय दुख की, पश्चात्ताप की एक झीनी-सी पतरी चढ़ी रहती है। उस पतरी में से तुम्हें, तुम्हारी 'सिनर्स सोल' को देखना बहुत मोहक लगता है…बहुत कम लोगों में 'गिल्ट' से उद्दीप्त चेतना दिखाई देती है…अपराध सभी करते हैं, पर 'गिल्ट' और वह भी पूरे व्यक्तित्व पर छाया हुआ…बस, वही मुझे तुम्हारी तरफ खींचता है…मन करता है, तुम्हारे इस 'गिल्ट' को शेयर करूं…"

"प्रतिभा !" सुधीर ने द्रवित कंठ से पुकारा।

"क्या ?"

"मैं तुम्हारे सामने 'कन्फैस' करना चाहता हूं। अपने अन्दर का सब कुछ उंडेल देना चाहता हूं…जो-जो अपराध मैंने किया है, वक्त दोगी…?"

"जरूर। उससे तुम्हें शांति मिलेगी ?"

"शांति नहीं प्रतिभा, शायद रास्ता मिल जाए…दरअसल खुद से बोलते-बोलते मैं तंग आ गया हूं…बोलो, मेरी बात सुनोगी ?"

"जरूर सुनूंगी सुधीर और वह मेरे लिए सुख की बात होगी।"

"सुनने के बाद मुझसे घृणा तो नहीं करने लगोगी ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" प्रतिभा ने बेहद आत्मविश्वास के साथ कहा।

"शुक्रिया। ठीक है। चलता हूं। जब वक्त दोगी ?"

सुधीर के साथ-साथ प्रतिभा भी उठकर खड़ी हो गई। उठते-उठते उसने कहा, "सुधीर, एक बात…खुद को 'कन्फैस' करते हुए यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसे सुनकर किसी में क्या भाव पैदा होता है। इस

सामने तुम्हारी ये ऊलजलूल वातें···

कहकर वह चाय वनाने रसोईघर में चली गई।

पर रसोईघर में पहुंचते-पहुंचते उसका मन वहुत खिन्न हो उठा।··· क्या वताऊं सुधीर को ? यह आदमी क्यों नहीं समझता कि···

पर वताना तो कुछ न कुछ पड़ेगा···और झूठ नहीं होना चाहिए··· ऐसे आदमी से झूठ नहीं वोला जाता···तो ?

ज्यों-ज्यों प्रतिभा के मन की दुविधा वढ़ती रही उसके अन्दर का आक्रोश भी वढ़ता रहा। यह सुधीर हर वार उसे किसी न किसी संकोच की स्थिति में डाल जाता है। अच्छी मित्रता है। रात को यह वात पूछने चले आए। यह कोई वक्त है। ठीक है, विपिन और मेरा विश्वास खूव मजवूत है पर अकारण उसे हल्की से हल्की चोट पहुंचाने से भी फायदा··· मानती हूं, सुधीर के साथ वैठना—वात करना मुझे अच्छा लगता है पर···

चाय वन गई। रसोईघर के आधुनिक साधन गृहणियों को सोचने का वहुत ही कम वक्त देते हैं···प्रतिभा तो खैर यहां आना पसन्द ही नहीं करती···सिर्फ अपने व्यक्तिगत मित्रों को चाय खुद वनाकर पिलाना उसे अच्छा लगता है, वाक़ी सव काम नौकर ही करता है···चाय लेकर प्रतिभा को ड्राइंग-रूम में आना पड़ा···

ड्राइंग-रूम में चाय के प्याले मेज पर रखकर प्रतिभा ने सुधीर की तरफ देखा, और देखती रह गई···यह क्या हुआ इसे···क्या हुआ ?

यह कैसा चेहरा है ?

एकदम स्याह···लिसलिसा···और आंखें जैसे घंटों तक रोकर चुकी हों···उवली-उवली···

वैठकर चाय सुधीर के हाथ में थमाती हुई प्रतिभा वोली, "क्या वात है सुधीर ?"

पर अपना ही स्वर सुनकर प्रतिभा खुद चौंक उठी। स्वर स्नेह और करुणा से सरावोर था···

सुधीर ने भी जरा चौंककर प्रतिभा की तरफ देखा। पर उसकी तरफ देखते ही उसने अपनी वात दोहरा दी, "मेरी वात का जवाव दो प्रतिभा,

वक्त कम है, तुम कह रही थीं···"

"चाय पिओ।"

"हूं। वह तो पी रहा हूं।"

"आज कोई नई बात घटी है ?"

सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, मेरे जीवन में, पूरे जीवन में, कोई घटना पूरी नहीं घटी। घटना का अधूरापन बहुत त्रास देता है···"

"वही मैं कह रही थी सुधीर। इसी अधूरेपन ने तुम्हारे व्यक्तित्व को एक खास किस्म की तरलता दी है; तुम्हारे चेहरे पर हर समय दुख की, पश्चात्ताप की एक झीनी-सी पतरी चढ़ी रहती है। उस पतरी में से तुम्हें, तुम्हारी 'सिनर्स सोल' को देखना बहुत मोहक लगता है···बहुत कम लोगों में 'गिल्ट' से उद्दीप्त चेतना दिखाई देती है···अपराध सभी करते हैं, पर 'गिल्ट' और वह भी पूरे व्यक्तित्व पर छाया हुआ···बस, वही मुझे तुम्हारी तरफ खींचता है···मन करता है, तुम्हारे इस 'गिल्ट' को शेयर करूं···"

"प्रतिभा !" सुधीर ने द्रवित कंठ से पुकारा।

"क्या ?"

"मैं तुम्हारे सामने 'कन्फेस' करना चाहता हूं। अपने अन्दर का सब कुछ उंडेल देना चाहता हूं···जो-जो अपराध मैंने किया है, वक्त दोगी···?"

"जरूर। उससे तुम्हें शांति मिलेगी ?"

"शांति नहीं प्रतिभा, शायद रास्ता मिल जाए···दरअसल खुद से बोलते-बोलते मैं तंग आ गया हूं···बोलो, मेरी बात सुनोगी ?"

"जरूर सुनूंगी सुधीर और वह मेरे लिए सुख की बात होगी।"

"सुनने के बाद मुझसे घृणा तो नहीं करने लगोगी ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" प्रतिभा ने बेहद आत्मविश्वास के साथ कहा।

"शुक्रिया। ठीक है। चलता हूं। जब वक्त दोगी ?"

सुधीर के साथ-साथ प्रतिभा भी उठकर खड़ी हो गई। उठते-उठते उसने कहा, "सुधीर, एक बात···खुद को 'कन्फेस' करते हुए यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसे सुनकर किसी में क्या भाव पैदा होता है। इस

सामने तुम्हारी ये ऊलजलूल बातें···

कहकर वह चाय बनाने रसोईघर में चली गई।

पर रसोईघर में पहुंचते-पहुंचते उसका मन बहुत खिन्न हो उठा।··· क्या बताऊं सुधीर को ? यह आदमी क्यों नहीं समझता कि···

पर बताना तो कुछ न कुछ पड़ेगा···और झूठ नहीं होना चाहिए··· ऐसे आदमी से झूठ नहीं बोला जाता···तो ?

ज्यों-ज्यों प्रतिभा के मन की दुविधा बढ़ती रही उसके अन्दर का आक्रोश भी बढ़ता रहा। यह सुधीर हर बार उसे किसी न किसी संकोच की स्थिति में डाल जाता है। अच्छी मित्रता है। रात को यह बात पूछने चले आए। यह कोई वक्त है। ठीक है, विपिन और मेरा विश्वास खूब मज़बूत है पर अकारण उसे हल्की से हल्की चोट पहुंचाने से भी फायदा··· मानती हूं, सुधीर के साथ बैठना—बात करना मुझे अच्छा लगता है पर···

चाय बन गई। रसोईघर के आधुनिक साधन गृहणियों को सोचने का बहुत ही कम वक्त देते हैं···प्रतिभा तो खैर यहां आना पसन्द ही नहीं करती···सिर्फ अपने व्यक्तिगत मित्रों को चाय खुद बनाकर पिलाना उसे अच्छा लगता है, बाक़ी सब काम नौकर ही करता है···चाय लेकर प्रतिभा को ड्राइंग-रूम में आना पड़ा···

ड्राइंग-रूम में चाय के प्याले मेज पर रखकर प्रतिभा ने सुधीर की तरफ देखा, और देखती रह गई···यह क्या हुआ इसे···क्या हुआ ?

यह कैसा चेहरा है ?

एकदम स्याह···लिसलिसा···और आंखें जैसे घंटों तक रोकर चुकी हों···उबली-उबली···

बैठकर चाय सुधीर के हाथ में थमाती हुई प्रतिभा बोली, "क्या बात है सुधीर ?"

पर अपना ही स्वर सुनकर प्रतिभा खुद चौंक उठी। स्वर स्नेह और करुणा से सराबोर था···

सुधीर ने भी ज़रा चौंककर प्रतिभा की तरफ देखा। पर उसकी तरफ देखते ही उसने अपनी बात दोहरा दी, "मेरी बात का जवाब दो प्रतिभा,

वक्त कम है, तुम कह रही थीं···"

"चाय पिओ।"

"हूं। वह तो पी रहा हूं।"

"आज कोई नई बात घटी है ?"

सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, मेरे जीवन में, पूरे जीवन में, कोई घटना पूरी नहीं घटी। घटना का अधूरापन बहुत त्रास देता है···"

"वही मैं कह रही थी सुधीर। इसी अधूरेपन ने तुम्हारे व्यक्तित्व को एक खास किस्म की तरलता दी है; तुम्हारे चेहरे पर हर समय दुख की, पश्चात्ताप की एक झीनी-सी पतरी चढ़ी रहती है। उस पतरी में से तुम्हें, तुम्हारी 'सिनर्स सोल' को देखना बहुत मोहक लगता है···बहुत कम लोगों में 'गिल्ट' से उद्दीप्त चेतना दिखाई देती है···अपराध सभी करते हैं, पर 'गिल्ट' और वह भी पूरे व्यक्तित्व पर छाया हुआ···बस, वही मुझे तुम्हारी तरफ खींचता है···मन करता है, तुम्हारे इस 'गिल्ट' को शेयर करूं···"

"प्रतिभा !" सुधीर ने द्रवित कंठ से पुकारा।

"क्या ?"

"मैं तुम्हारे सामने 'कन्फैस' करना चाहता हूं। अपने अन्दर का सब कुछ उंडेल देना चाहता हूं···जो-जो अपराध मैंने किया है, वक्त दोगी···?"

"जरूर। उससे तुम्हें शांति मिलेगी ?"

"शांति नहीं प्रतिभा, शायद रास्ता मिल जाए···दरअसल खुद से बोलते-बोलते मैं तंग आ गया हूं···बोलो, मेरी बात सुनोगी ?"

"जरूर सुनूंगी सुधीर और वह मेरे लिए सुख की बात होगी।"

"सुनने के बाद मुझसे घृणा तो नहीं करने लगोगी ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" प्रतिभा ने बेहद आत्मविश्वास के साथ कहा।

"शुक्रिया। ठीक है। चलता हूं। जब वक्त दोगी ?"

सुधीर के साथ-साथ प्रतिभा भी उठकर खड़ी हो गई। उठते-उठते उसने कहा, "सुधीर, एक बात···खुद को 'कन्फैस' करते हुए यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसे सुनकर किसी में क्या भाव पैदा होता है। इस

सामने तुम्हारी ये ऊलजलूल बातें···

कहकर वह चाय बनाने रसोईघर में चली गई।

पर रसोईघर में पहुंचते-पहुंचते उसका मन बहुत खिन्न हो उठा।··· क्या बताऊं सुधीर को? यह आदमी क्यों नहीं समझता कि···

पर बताना तो कुछ न कुछ पड़ेगा···और झूठ नहीं होना चाहिए··· ऐसे आदमी से झूठ नहीं बोला जाता···तो?

ज्यों-ज्यों प्रतिभा के मन की दुविधा बढ़ती रही उसके अन्दर का आक्रोश भी बढ़ता रहा। यह सुधीर हर बार उसे किसी न किसी संकोच की स्थिति में डाल जाता है। अच्छी मित्रता है। रात को यह बात पूछने चले आए। यह कोई वक्त है। ठीक है, विपिन और मेरा विश्वास खूब मजबूत है पर अकारण उसे हल्की से हल्की चोट पहुंचाने से भी फायदा··· मानती हूं, सुधीर के साथ बैठना—बात करना मुझे अच्छा लगता है पर···

चाय बन गई। रसोईघर के आधुनिक साधन गृहणियों को सोचने का बहुत ही कम वक्त देते हैं···प्रतिभा तो खैर यहां आना पसन्द ही नहीं करती···सिर्फ अपने व्यक्तिगत मित्रों को चाय खुद बनाकर पिलाना उसे अच्छा लगता है, बाक़ी सब काम नौकर ही करता है···चाय लेकर प्रतिभा को ड्राइंग-रूम में आना पड़ा···

ड्राइंग-रूम में चाय के प्याले मेज़ पर रखकर प्रतिभा ने सुधीर की तरफ देखा, और देखती रह गई···यह क्या हुआ इसे···क्या हुआ?

यह कैसा चेहरा है?

एकदम स्याह···लिसलिसा···और आंखें जैसे घंटों तक रोकर चुकी हों···उबली-उबली···

बैठकर चाय सुधीर के हाथ में थमाती हुई प्रतिभा बोली, "क्या बात है सुधीर?"

पर अपना ही स्वर सुनकर प्रतिभा खुद चौंक उठी। स्वर स्नेह और करुणा से सराबोर था···

सुधीर ने भी ज़रा चौंककर प्रतिभा की तरफ देखा। पर उसकी तरफ देखते ही उसने अपनी बात दोहरा दी, "मेरी बात का जवाब दो प्रतिभा,

वक्त कम है, तुम कह रही थीं···"

"चाय पिओ।"

"हूं। वह तो पी रहा हूं।"

"आज कोई नई बात घटी है?"

सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, मेरे जीवन में, पूरे जीवन में, कोई घटना पूरी नहीं घटी। घटना का अधूरापन बहुत त्रास देता है···"

"वही मैं कह रही थी सुधीर। इसी अधूरेपन ने तुम्हारे व्यक्तित्व को एक खास किस्म की तरलता दी है; तुम्हारे चेहरे पर हर समय दुख की, पश्चात्ताप की एक झीनी-सी पतरी चढ़ी रहती है। उस पतरी में से तुम्हें, तुम्हारी 'सिनर्स सोल' को देखना बहुत मोहक लगता है···बहुत कम लोगों में 'गिल्ट' से उद्दीप्त चेतना दिखाई देती है···अपराध सभी करते हैं, पर 'गिल्ट' और वह भी पूरे व्यक्तित्व पर छाया हुआ···बस, वही मुझे तुम्हारी तरफ खींचता है···मन करता है, तुम्हारे इस 'गिल्ट' को शेयर करूं···"

"प्रतिभा!" सुधीर ने द्रवित कंठ से पुकारा।

"क्या?"

"मैं तुम्हारे सामने 'कन्फैस' करना चाहता हूं। अपने अन्दर का सब कुछ उंडेल देना चाहता हूं···जो-जो अपराध मैंने किया है, वक्त दोगी···?"

"जरूर। उससे तुम्हें शांति मिलेगी?"

"शांति नहीं प्रतिभा, शायद रास्ता मिल जाए···दरअसल खुद से बोलते-बोलते मैं तंग आ गया हूं···बोलो, मेरी बात सुनोगी?"

"जरूर सुनूंगी सुधीर और वह मेरे लिए सुख की बात होगी।"

"सुनने के बाद मुझसे घृणा तो नहीं करने लगोगी?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" प्रतिभा ने बेहद आत्मविश्वास के साथ कहा।

"शुक्रिया। ठीक है। चलता हूं। जब वक्त दोगी?"

सुधीर के साथ-साथ प्रतिभा भी उठकर खड़ी हो गई। उठते-उठते उसने कहा, "सुधीर, एक बात···खुद को 'कन्फैस' करते हुए यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसे सुनकर किसी में क्या भाव पैदा होता है। इस

चिंता के साथ 'कन्फेशन' सिर्फ अपनी कहानी सुनाना रह जाता है। नहीं ?"

सुधीर ने डूबे हुए स्वर में कहा, "रह जाता होगा। यह बड़ी बात है, बड़े लोगों की बड़ी बात ! मैं साधारण आदमी हूं। मेरे लिए अपने मन की शान्ति से भी अधिक तुम्हारे स्नेह की क़ीमत है···तुम्हें खुद पर भरोसा न हो तो बता दो, नहीं सुनाऊंगा ? मन का क्या है, उसने शान्त रहना सीखा होता तो···"

प्रतिभा ने जल्दी से बात काटकर कहा, "नहीं-नहीं, सुनाना···ज़रूर सुनाना···निश्चित रहो···"

और सुधीर बाहर निकलते-निकलते बोलता रहा, "जो लोग भगवान में विश्वास करते हैं बड़ी सुविधा में रहते हैं। ऐसा कोई खतरा उन्हें नहीं होता···पर मुझे एक लम्बी खोज के बाद अपना खुदा मिला है, मैं उसे किसी भी क़ीमत पर खो नहीं सकता···तुमने मेरी बात सुनने का हौसला दिखाया है, आभारी हूं··· मैं मानता हूं, सिर्फ औरत, औरत और खुदा दोनों हो सकती है, आदमी में वह कलेजा नहीं होता, वह आधार छोड़कर या तो ऊपर चढ़ता चला जाता है या नीचे ग़र्क होता हुआ··· जाता हूं प्रतिभा, तुम्हारा बहुत-बहुत शुक्रिया···आज मैं भी कह सकता हूं, मैंने भी इस जिन्दगी में कुछ हासिल किया···"

सुधीर बाहर निकल गया···प्रतिभा भावविह्वल उसे जाते हुए देखती रही···वक्त ने एक पल रुककर करवट ली फिर यथा-सहज भाव से वह निकला···

वक्त वहते-वहते बहुत कुछ साथ वहा ले जाता है···आनन्द वह गया··· रजिया वह गई···नदी सहज गति से वहती है तो सब कुछ समय पर वहता है पर वाढ़ आती है तो समय से पहले ही वहुत कुछ वह जाता है··· दोनों तरफ के किनारे भी और किनारों पर रुके घर-मकान भी···वाढ़ तेज़ हो तो किनारों से दूर के मकान भी लपेट में आ जाते हैं और···और भी तेज़ हो तो···

सुधीर के दिमाग में वाढ़ आ गई है। आनन्द की मौत ने रेत के वने कंटूर ढहा दिए। ढेर की ढेर मवाद वहकर वाहर आने लगी। घर की विगड़ती आर्थिक स्थिति ने ज़ख्म को गहरा खोदना शुरू कर दिया। संज्ञा के सीधे हमले चोट में ठसक की तरह दर्द उभार जाते और रमा की मौन भर्त्सना सुधीर के सिर में फंसे इंटरोड़ों को हिला-वजा कर उसे लगभग अचेत कर देती। ले-देकर प्रतिभा उसे जगाती पर जाग कर सुख उसे मात्र रोने का ही मिलता और रोते-रोते वह फिर वेहोश हो जाता···जागता हुआ पर वेहोश···

वक्त वहता रहा···

···और ठूंठ की तरह कटा खड़ा सुधीर वहते वक्त को प्यासी दृष्टि से देखता रहा···

घर की आर्थिक स्थिति ढलान पर से अनथक लुढ़कती रही···

लिखने के नाम पर सुधीर ने अनगिनत अधूरी कहानियां लिखीं जो पूरी होने से पहले ही फ्यूज़ हो जाती रहीं और सुधीर में झुंझलाहट वढ़ाती रहीं···लेखक वनने का उसका भ्रम टूटने लगा···

प्रतिभा के यहां से इस-उस वहाने से पैसा आता रहा···जीते रहने के लिए···जीते रहने की वाध्यता की मानसिकता ने सुधीर के परिवार के क्षितिजों पर धूल ही धूल विखेर दी···

मुक़दमा एक विशालकाय जानवर की तरह जमीन पर पूंछ पटकता

रहा और धूल उड़ाता रहा···

प्रतिभा चकित थी···कहीं उसने इस आदमी की तकलीफ को कम करने के वजाय वढ़ा तो नहीं दिया।

संज्ञा का विद्रोह फन पटकता रहा···

रमा हतप्रभ, कुंठित, रुंआसी-सी सब कुछ होता हुआ देखती रही···

सुधीर चारों तरफ की ऊहापोह, सबके अन्दर पनपते संदेह से परिचित रहा, देखता रहा, पर ऐसे ही जैसे आदमी सपना देखता है···प्रतिक्रिया-विहीन, निष्क्रिय, तन्द्रा-जड़···

और साल वीत गया। सुधीर की तंद्रा नहीं ही टूटी···

फिर एक दिन···

एक ही दिन में तीन-चार छोटी-छोटी घटनाएं घट गईं। संज्ञा ने सुवह-सुवह वताया, "कल पापा, मेरी फीस जाएगी। आखिरी तारीख है। एक सौ अस्सी रुपये।"

सुधीर एक मिनट तो खवर निगल कर जुगाली करता रहा फिर एकदम चीखकर वोला, "कल आखिरी तारीख है और आज वता रही हो।"

"आज से पहले वताने से क्या हो जाता। वैंक से निकालने के लिए, एक दिन का नोटिस काफी है।"

"वोलने वहुत लगी हो। मेरी ही दी हुई कटार मुझे ही भोंक रही हो।"

"वोलने की आजादी कटार होती है?"

"होती ही है। इस वात पर मुनस्सर करता है, कौन उसे कैसे इस्तेमाल करता है।"

संज्ञा ने हंसकर कहा, "अच्छा विपय है पापा, कभी इस पर वात करेंगे। इस वक्त तो···पर कल फीस जरूर जाएगी, याद रखना।"

संज्ञा कालिज चली गई।

रमा आकर सुधीर के सामने खड़ी हो गई।

"क्या है ?"

"शाम के लिए आटे से नमक तक कुछ नहीं है।"

"अच्छा।"

रमा जाने लगी तो सुधीर ने पूछा, "क्या वजा है रमा ?"

"आठ। अव चाहो तो उठ जाओ।"

"संज्ञा आज इतनी जल्दी कालिज क्यों गई है ?"

"कोई मीटिंग-वीटिंग वता रही थी। मुझे तो ठीक से समझ नहीं आया।"

"एक कप चाय और मिल सकता है ?"

"नहीं···अच्छा, देखती हूं।"

"छोड़ो, रहने दो···यह वहुत सुवह, पीछे, शोर-शरावा कैसा था ?"

"अरे, वह हरद्वारी रहता है ना पीछे, उसकी वहू मर गई, जल कर। कोई कहता है स्टोव पर गिर पड़ी, कोई कहता है, जानवूझकर मर गई, और कोई कहता है जानवूझकर मार दी गई, यानी हरद्वारी, उसकी मां और उसकी वहिन ने वांध-जूड़कर जला दी, मार डाली···वड़ी अच्छी थी वेचारी···उम्र ही क्या थी···पिछले साल तो शादी हुई थी···मुश्किल से सोलह-सत्रह की रही होगी···"

"सुवह शोर काहे का था ?"

"पुलिस आई थी और ज्यादा शोर पगली मचा रही थी।"

"उसने क्या किया ?"

"पता नहीं क्या नाच रही थी, किसी की समझ में नहीं आया। पर पुलिस ने उसका नाच वड़े ध्यान से और शौक से देखा।"

सुधीर चुप हो रहा।

पांच मिनट में रमा चाय वना लाई। प्याला सुधीर के हाथ में थमाती हुई वोली, "अव और मत मांगना। डिव्वा निचोड़ कर चीनी डाल दी है।"

"अच्छा।"

"सुनो, मैंने अपने लिए एक नौकरी तलाश की है। सौ रुपये महीना देने को तैयार हैं। कल से जाऊंगी।"

सुधीर अचानक उठकर बैठ गया···

"कब से ?"

"कल से।"

"मुझसे पूछा तक नहीं। मुझे सिर्फ खबर दे रही हो।"

"नहीं, पूछ रही हूं अभी एक दिन बाक़ी है और नौकरी तो करनी ही है। संज्ञा भी ट्यूशन ढूंढ़ रही है। घर तो चलाना है ना!"

"ओह!"

रमा चली गई। सुधीर फिर लेट गया। और भी सपाट भाव से। सोच तक के स्तर पर सपाट···

···हां, कुछ दिनों से सुधीर की सोचने की शक्ति कुछ कुन्द हो गई है···वह कभी-कभी सोचता है, वह क्या सोचे?

बाहर तो उठकर जाना ही पड़ेगा···

फीस का इन्तजाम तो होना ही है···

चाय पीकर सुधीर की तन्द्रा गाढ़ी होती है···

वह सुपुप्त चेतना की खाई में लुढ़क गया···

···कुछ टूट रहा है···

···कुछ हो रहा है···गहमागहमी है···आपाधापी···

हर आज़ादी की शर्त है, आदमियों का मरना···जब आदमी नहीं मरते और कुछ हो जाता है तो ऐसा लगता है, कुछ हुआ ही नहीं··· हिन्दुस्तान को आज़ादी मिली है और अनगिनत आदमी मर रहे हैं···और देशों में आज़ादी से पहले मरते हैं···यहां बाद में मर रहे हैं···गांधी भला आदमी था···आदमियों को मरने से बचाने की भरसक चेष्टा करता रहा, पर अब···

गांधी दरअसल नास्तिक था···भगवान के काम में बाधा···दंड दिया भगवान ने उसे इसका···महात्मा कहलाया और शिकार की तरह मारा गया···ठांय—ठांय···और महात्मा की आत्मा परमात्मा के चरणों में··· बुद्ध बेचारा···और उस करुणा-कुंज बुद्ध ही का क्या हुआ? सूअर का

मांस पेट में और करुणा का सूर्य अस्त···कहते हैं सूर्य अस्त हो भी जाये, पर प्रकाश रह जाता है ··हां, वह तो है···पर अन्धकार भी रह जाता है···हिरोशिया और नागासाकी का अन्धकार आज हर जीवित आदमी की चेतना में घुला मिलेगा···और वह···वह मानी सुधीर···उसने भी तो एक छोटा-सा हिरोशिया अपने अन्दर आवाद किया था···गुप्ती घूमी ···एक आदमी मर गया···एक वटन दवा और एक लाख आदमी मर गये···दोनों में क्या फ़र्क है ? जिसने एक लाख को मारा वह पागल हो गया···उसने देखी थी अपनी को, वह विनाश लीला, ऊपर से ···भगवान की तरह···भगवान कभी पागल नहीं होता···ऊपर से सव देखता है···सुधीर उसी भगवान का अंश है···पागल नहीं हुआ···वच्चे पैदा किये और अव उनकी फीस, उनके खाने, उनके लिए कपड़ों का इन्तज़ाम करता घूमता है···वह पागल नहीं हुआ···देखा था उसने भी तीन दिन वाद जाकर उसे···सड़ी लाश···लम्वे-लम्वे कीड़े··सड़क के किनारे···सिर नाली में लुढ़का हुआ···गुप्ती ने जो सूराख वनाया था, वह उसी के लहू ने मूंद दिया था···

सूराख के मुंह पर लहू जम गया और सूराख बन्द हो गया···

सूराख···?

क्या कहा करता था वह ? वह कौन ? कोई भी। कहता था, "इस डेढ़ इंच के सूराख के लिए वड़ी-वड़ी लड़ाइयां हुईं। हजारों लाखों लोग मारे गए। वन्द करा दो इन सव साले सृष्टि-द्वारों को, मिट्टी-गारे से···"

ओह ! पर कोई भी सूराख जव वन्द होता है, तो अपने ही जमे लहू से···उसने देखा था, उसकी गुप्ती-से वना सूराख···

नहीं, जागो नहीं, देखो···देखो···सुनो···

हर-हर महादेव···अल्लाहो-अकवर···

चार गलियां···समानांतर···दो हिन्दुओं की···दो मुसलमानों की ···दो गलियां चारों को जोड़ती हुई···दोहरी सीढ़ी···

जन्माष्टमी का दिन···कृष्ण जन्म लेंगे···हर साल लेते हैं···पर इस साल···

हर-हर महादेव···अल्लाहो अकवर···

जापान के नागासाकी की आग बुझ गई···सुधीर का नागासाकी आज भी दहक रहा है···रोज आग तेज हो जाती है···सब जलकर भस्म हो जाएगा···

चार गलियां···चहल-पहल···छोटे-बड़े बच्चे···पिट्ठू-बारी, आंख-मिचौनी···भागमभाग···कौन हिन्दू, कौन मुसलमान···कुछ पता नहीं···हुँह, अनजान लोग···

···पर आज जन्माष्टमी है···कृष्ण भगवान जन्म लेंगे···

···गली का वह नुक्कड़···सड़क पर उतरता हुआ···एक आदमी, वासुदेव···कल तक इसका रंग गेहुँआ था आज कैसा काला है···कृष्ण काले थे···जन्म लेंगे···गली के नुक्कड़ पर इसकी दूध की दुकान है···और पीछे अखाड़ा है···मिट्टी में दंड पेलता है···शादी जो नहीं की···सब हंसते हैं···

चारों तरफ कर्फ्यू है···एक अमानवीय सन्नाटा···बाहर कहीं कैसे मुसलमानों को पुलिस का सिपाही साथ लाकर उनकी गली तक पहुंचाता है···

"वासुदेव, मुर्गा···" एक फुसफुसाहट।

"कौन है साथ में ?" एक उत्साह-भरा प्रश्न।

"चन्द्रसेन।"

"हर हर महादेव। एक पुन्न और कमा लूं।"

···सुधीर ने अपनी दीवार में सूराख करके उसमें आंख लगा रखी है···एक आंख बन्द है···

···बारह मन की धोबन देखो···आगरे का ताजमहल देखो···दिल्ली का लाल किला देखो···देखो-देखो···जल्दी देखो··· बिड़ला मन्दिर··

सत्रह साल का सुधीर देख रहा है···

कितना मजा आया···खाली मकान···हिन्दुओं की भीड़ घुसी······

कुछ माल-पत्ता मिलेगा···क्या ले गए होंगे साले साथ···कल ही तो भागे हैं, पुलिस एस्कोर्ट में···आपाधापी···कहां है माल···क्या खोलें, क्या तोड़ें···सब एक-दूसरे को धकिया रहे हैं···बद्री पहलवान को कौन धकियायेगा···एक मुसलमान रोज़ मारने का मरण लिया है पहलवान ने··· उससे पहले थाली पर नहीं बैठेगा···एक बड़े से ट्रंक पर झपटा है बद्री··· वह जानता है कोई उसके आड़े नहीं है फिर भी झपटा है···ट्रंक खुला··· ऊपर कपड़े···कपड़ों के नीचे···

ओह ! ···कपड़ों के नीचे···

···एक बच्चा···सोया हुआ···मुश्किल से छह महीने का···जिन्दा है, पर गहरी नींद सोया है···अफीम का पानी दिया होगा···

···बद्री नाराज़ है···बैन्चो, खोदा पहाड़, निकला यह चूहा···उसने दोनों हाथ पकड़कर चूहे को अधर में लटका लिया है···चूहा जाग गया है··· आंख खोलकर चारों तरफ देख रहा है···दुनिया का पहला एहसास··· मां न हो, तभी दुनिया को देखा जा सकता है···

चारों ओर ठहाके गूंज रहे हैं···

यह ठहाका उठान के आखीर में चीत्कार जैसा क्यों लगता है···

···बद्री के हाथ की किरपाण घूमी है और बंधे हाथ की मुट्ठी में दो छोटे-छोटे हाथ और आधा धड़ लटका रह गया है···

दोनों छोटी-छोटी बांहों में फंसे सिर में उगी दो छोटी-छोटी आंखें अभी भी खुली हैं···

सुधीर अपनी चेतना में बने सूराख में से देख रहा है···

वासुदेव आगे बढ़ा है···दबे पांव···हाथ में मजबूत लट्ठ···तली में लोहे का कुन्दा···

एक बुजुर्ग, सिर सफेद, दाढ़ी सफेद···गोरा चमकदार रंग···खरामा खरामा···धरती की तरफ देखते हुए···चल रहे हैं···शायद खुदा को

याद करते…थोड़ी देर में घर आ जाएगा…डर क्या है, सिपाही साथ है…

साथ में चन्द्रसेन है…सिपाही…

चारों तरफ सन्नाटा…सौप्तिक पर्व के अन्त में जो सन्नाटा पढ़नेवाले की चेतना पर छा जाता है…वही, बाहर फैलकर जम गया है…

वासुदेव दबे पांव…दिन में…

अश्वत्थामा दबे पांव…रात को…पांचों पाण्डवों के वध के लिए… शकुनि और कृपाचार्य शिविर के बाहर…अश्वत्थामा के लिए शुभ-कामना करते हुए…

सुधीर ने देखा, वह खड़े शकुनि और कृपाचार्य गली के नुक्कड़ पर… सांस बांधे…

…और…वासुदेव का सधा हुआ हाथ घूमा…घुस्स !…नहीं… बड़े मियां गिरे और ढेर हो गए…

वासुदेव भागा…कहीं कोई नहीं जिस का डर हो, पर वासुदेव भाग कर गली के नुक्कड़ पर पहुँचा…

शकुनि और कृपाचार्य ने उसे गले लगा लिया…

चन्द्रसेन सड़क पर सीधा चला जा रहा है…

सुधीर की चेतना में बना सूराख फटकर चौड़ा हो गया है…

दीखते दृश्य का दायरा बढ़ गया है…

यह क्या हुआ ? यह बाइस्कोप में घूमती तस्वीरों की स्पीड कैसे बढ़ गई ? क्रम कैसा गड्ड़मड्ड़ हो गया है। एक ही वक्त दो तस्वीरें, ऊपर नीचे, एक दूसरे पर चिपकी हुई। कुछ दीख रहा है…कुछ योंही नज़रों के नीचे से निकला चला जा रहा है…

चारों तरफ दुकानें…बहुत चौड़ी सड़क…सड़क के किनारे एक चिता जल रही है… किसकी चिता है, पता नहीं…इस बस्ती के सभी

मुसलमान हजारों हजार के जुलूस में जा रहे हैं···एक औरत धोबियों के मौहल्ले से आई, भागती हुई, उस जुलूस में शामिल होने के लिए··· पकड़ लिया, बोटी-बोटी उड़ा दी···दो आदमी उतरे ट्राम से···कल घर छोड़ कर गए थे···आज घर देखने आए हैं···पकड़ लिया दोनों को सड़क पर··· जल रही चिता में धकेल दिया···उठ-उठ कर भागे···नहीं, मौत का घेरा नहीं टूटेगा···क्या किया तुम्हारे भाइयों ने, हमारे भाइयों के साथ···वहां ···बदला लेंगे···याद करोगे···

पर सुना नहीं किसी औरत ने किसी को मारा हो···फिर···? तिमंजिले मकान की छत···शाम का वक्त···जुलूस को गए दो घंटे हो गए ···खाली मकानों की तलाशी ली जा रही है···खाली मकानों में आग लगाई जा रही है···क़ीमती सामान···

अरे ! यह ज़ीने के किवाड़ उधर से बंद कैसे हैं ? ज़रूर छत पर कोई है···तोड़ो, किवाड़ तोड़ो···

एक छोटी-सी भीड़···सुधीर साथ है···

ताला टूट गया···छत खुल गई···

और···

सुधीर हड़बड़ा कर उठ बैठा। चारों तरफ देखा। फिर ज़ोर से चीखा-
"रमा, ओ रमा !"

रमा उसके सिरहाने कुर्सी पर बैठी थी। उठकर सामने आई। सुधीर की शक्ल देखकर घबरा गई। पूछा, "क्या हुआ ? सपना देखा ?"

"नहीं। सच।"

"पानी लाऊं ?"

"नहीं। एक बात बताओ। तुम भगवान में विश्वास करती हो ?"

सुधीर पलंग पर दोनों हाथों में अपना सिर लिए बैठा था। और अभी भी ऐसे बोल रहा था, जैसे सोते में बोल रहा हो। रमा ने चाहा कि उसे हल्का कर दे। बोली, "यह भगवान आज कहां से आ गए, और मेरे विश्वास करने न करने से क्या होता है, तुम तो नहीं करते ?"

"रमा !"

सुधीर ने जिस तरह पुकारा, रमा डर गई। बोली, "हां।"

"जो पूछा है, उसका जवाब दो। तुम भगवान में विश्वास करती हो ?"

"हां, करती हूं।"

"मानती हो कि भगवान एक है ?"

"हां, मानती हूं।"

"और यह भी मानती हो कि सब जीवों में उसी का अंश होता है··· या वही होता है···"

"हां, वह तो है ही···"

"तो जो पाप किसी मेरे दोस्त ने किया, सच नहीं है कि मैंने ही किया···"

"सच है···"

"तो अगर मैं अपने किए का पश्चात्ताप करूं और किसी और के किए का पश्चात्ताप भी करूं तो क्या तुम उस पश्चात्ताप में मेरी भागीदार होगी।"

रमा को कुछ समझ नहीं आया कि क्या हो रहा है। वह घबरा गई। सुधीर के पास पलंग पर बैठ गई, बोली, "हुआ क्या है, बात बताओ ना।"

"ठीक है। नहीं दोगी। अच्छा, एक बात बताओ।"

"क्या ?"

"तुम पर मैंने बहुत अत्याचार किया है ?"

"पता नहीं।"

"बताओ।"

रमा खीझ गई, बोली, "यह क्या नाटक चल रहा है आज ? तुम्हें जाना नहीं है ? याद है ना, कल संज्ञा की फीस जानी है।"

"चली जाएगी।"

"कहां से आएगी ?"

"आ जाएगी।"

रमा ने सुधीर की तरफ देखा, उठकर खड़ी हुई, फिर कहा, "कल

से मैं नौकरी पर जाऊंगी। संज्ञा से मैंने पूछ लिया है। संदीप और समीर आधे दिन घर पर रहेंगे। और आधे दिन स्कूल में।"

सुधीर चुप बना रहा।

रमा मिनट भर खड़ी देखती रही फिर अन्दर रसोई में चली गई। उसे आशा थी, सुधीर कुछ कहेगा और दोनों के बीच की संवादहीनता टटेगी पर···

दिन भर भटक कर आखीर शाम के पांच बजे सुधीर प्रतिभा के पास पहुंच गया।

प्रतिभा उस दिन बहुत खुश थी। पता नहीं क्यों।

हर बात पर हंसती। बीच-बीच में सुधीर को घिस भी देती, "आज फिर मुंह लटका रखा है। क्या है ? कुछ हो सकता है कि किसी दिन हम सुधीर माइनस समस्या से मुलाक़ात करें।"

सुधीर बोलने को होता तो बात काट देती, "नहीं बाबा, नहीं। समाज नहीं। समाज को बीच में न लाओ। मैं जानती हूं, मतलब तुम से सुन-सुन कर जान गई हूं···समाज बहुत निर्मम है, निर्मोही है, क्रूर है और अन्यायी है; आज कोई नई बात करो।"

"क्या नई बात ? जैसे ?"

"जैसे तुमने कभी किसी से प्रेम किया हो ? या कभी किसी की हत्या की हो ? मेरा मतलब है, कभी आदमी जैसा बर्ताव किया हो ?"

"किया है।"

"क्या ? प्रेम या हत्या ?"

"एक ही बात है। हमारे यहां तो प्रेम भी हत्या ही की तरह किया जाता है। डरते-डरते करो और फिर जल्दी से जल्दी भागो···कहीं कोई देख न ले। यानी प्रेम करो या हत्या, एक ही बात है।"

"भई, तुमने क्या किया है ? प्रेम ? या हत्या ?"

"दोनों पे हाथ आजमाया है। पर बदकिस्मती देखो, दोनों में ही कुछ हाथ नहीं लगा। प्रेम में लड़की नहीं मिली और हत्या में सजा···बनी

बात, लड़की और सज़ा पर्याय, हैं ना।"

"और ये रमा जी ?"

"राम-राम ! रमा जी लड़की नहीं हैं, पत्नी हैं।"

अचानक बात रुक गई। दोनों को महसूस हुआ जैसे शून्य बीच में आ गया हो और बात करने को कुछ भी बाकी न हो। यह क्या हुआ ? दोनों अचानक अपनी-अपनी कोठरी में बन्द हो गए। पर दोनों की ही समझ में नहीं आया कि ऐसा अकारण हुआ क्यों। प्रतिभा के मन में एक तीव्र भाव लहका—सुधीर फौरन उठे और चला जाए। सुधीर भी लगभग समझ गया कि वह असंगत हो चुका है, उसे उठ जाना चाहिए। संवादहीनता की यह स्थिति कुछ ही मिनट रही पर दोनों को लगा कि वे चुप्पी की गर्मी से पिघलने लगे हैं। इस चुप्पी के अतिरिक्त भी दोनों के अन्दर कुछ था जो दोनों को पिघला रहा था। सुधीर के मन में संज्ञा की फीस रेगिस्तानी चक्रवात उठा रही थी और प्रतिभा के मन में कुछ एक अमूर्त वेदना थी जो उसे बीच में से चीरे दे रही थी। यह प्रतिभा का स्वभाव है जब वह कहीं गहरे में एक वेदना का अनुभव करती है तो पहले बहुत हंसती है, खूब खिलखिलाती है, फिर अचानक अपने में घुट कर कमरे में चटखनी अन्दर से बन्द करके घंटों बिस्तरे में पड़ी शून्य में ताका करती है। उस समय घर का कोई भी सदस्य उसके कमरे के दरवाज़े पर हाथ नहीं रख सकता।

कुछ ही मिनट और खिसके होंगे कि प्रतिभा के लिए सुधीर का बैठे रहना असह्य हो गया। उसने एकदम बुझे स्वर में पूछा, "तुम्हें कुछ कहना है सुधीर ?"

सुधीर चौंका, बोला, "नहीं", फिर एकदम खुद को सही करता हुआ बोला, "हां, कहना है।"

"कहो।"

"कुछ तुम्हारी तबीयत खराब हो गई है ?"

"नहीं। कहो।"

प्रतिभा की आवाज़ के ठंडेपन ने सुधीर का नैतिक साहस धूल की तरह उसके मन पर से झाड़ दिया। पर परिस्थितिजन्य अनैतिक साहस

ज़िद किए खड़ा रहा। उसे उठकर बाहर आ जाना चाहिए था पर वह बैठा रहा, चुपचाप।...वातावरण में एक धुंआ-सा भरने लगा।

"सुधीर, ज़रा जल्दी। मैं उधर जाना चाहती हूं।"

सुधीर चुप रहा। उसकी आंखों का पीला लेस पिघलने लगा। पर इस स्थिति से वह घबराता है। उसने जल्दी से कहा, "मुझे कुछ और पैसे चाहिए।"

प्रतिभा ने सुना। उसे इसी वाक्य की आशंका थी। फिर भी यह आशा भी थी कि शायद इस वातावरण में सुधीर यह सब कह न पाए और वह एक भद्दी स्थिति से बच जाए। पर वाक्य आया और प्रतिभा के अन्दर की सारी भाव-जड़ता टूट गई। अजीब खुद में ग़र्क आदमी है। कोई दूसरा तो शायद इसके लिए इसके अपने दायरे से बाहर होता ही नहीं। तो?...नहीं, और नहीं। यह खेल है। अपने दायरे से बाहर जाकर खेलना खतरनाक है। इस आदमी का चेहरा देखकर जो करुणा मन में पैदा होती है उसे पिंजरे में बन्द रखना होगा। पिंजरे से निकला जानवर या खुद को खा जाता है, या सामनेवाले को...न प्रतिभा खुद मरना चाहती है, न चाहती है कि सुधीर मारा जाए...नहीं, यह क्रम तोड़ना होगा...यह अस्वाभाविक क्रम...

उसने बहुत धीरे से, आवाज़ को ज़रा अतिरिक्त मीठा बनाकर कहा, "पर पैसे तो आज बिल्कुल नहीं हैं, घर में, सुधीर। इस समय तो मैं कुछ भी नहीं कर सकती।"

सुधीर चुप रहा। उसकी आंखों का पीला मोम जलकर धुआं बाहर फेंकने लगा। वह चुप, उंगलियों को मरोड़ता-तोड़ता बैठा रहा। मिनट भर बाद उसने प्रतिभा की तरफ देखा। प्रतिभा ने भी उसकी तरफ देखा। देखते ही उसे घुरघुरी-सी आई जैसे किसी डरावने, लिसलिसे समुद्री जानवर से छू गई हो। उसका मन हुआ, वह उठकर अन्दर भाग जाए। पर उसके हर समय सतर्क रहनेवाले दिमाग़ ने उसे बताया कि भाग जाने से इस आदमी का दायरा फैल जाएगा और हो सकता है, वह स्थिति और भी खतरनाक हो। उसने फिर उसी मन्दी और मीठी आवाज़ में कहा, "आई एम सॉरी, सुधीर, आज घर में पैसा नहीं है।"

"ठीक है। अच्छा। दोहरा क्यों रही हो?"

"यों ही। तुम्हें विश्वास न हो शायद।"

सुधीर के चेहरे पर एक कड़ुई मुस्कराहट उभरी और डूब गई। उसने कहा, "विश्वास न होता तो शायद तुमसे मांगता नहीं।"

"क्या करूं? आज घर में हैं ही नहीं।"

"ठीक है। चलता हूं।"

सुधीर उठकर खड़ा हो गया।

उसने चारों तरफ देखा···

···कितनी पीली रोशनी है···चारों तरफ की काली दीवारों पर पीले काग़ज की तरह चिपकी हुई···जगह-जगह कोनों में छोटे-बड़े जानवर बैठे हैं···अलग-अलग सूरत वाले···सामने दीखते काले स्क्रीन पर कुछ बहुत दीर्घकाय जानवरों की छायाएं हिल रही हैं··· शायद वे जानवर अन्दर आने की कशमकश में हैं···प्रतिभा कोच में सिर झुकाए बैठी है···कैसा सांवला लग रहा है रंग इसका···क्या हो गया इसे···?

···अरे, क्या हुआ इसे? नहीं हैं तो नहीं हैं, इसमें···

सुधीर कोच की पीठ पकड़े खड़ा है···उसे घुमेर आ रही है···

उसने कहा है, "पांच मिनट और बैठ सकता हूं?"

प्रतिभा ने कहा है, "हां-हां, बैठो। क्या हुआ?"

"कुछ नहीं।" सुधीर बैठ गया है।

आगे सुधीर को कुछ मालूम नहीं क्या हुआ। उसे कुछ खाने को मिला। फिर तीन सौ रुपये मिले, इस वाक्य के साथ कि "यह मेरी तुम्हारी पैसे की आखिरी 'ट्रान्जेक्शन' है।" सुधीर ने विदा ली। वह धीरे-धीरे चलकर ज़ीना उतरा और फिर खिंचता हुआ सड़क पर आ गया···सड़क जो दूसरी सड़क तक पहुंचेगी और वह सड़क तीसरी तक और फिर वह लम्बी अजगरी सड़क जो उसे घर के पास उगल देगी···

पैदल चलें···?

हां, पैदल···धीरे-धीरे··· बस में जेब बहुत कटती है···

सुबह संज्ञा की फीस जानी है···

इस इतने बड़े शहर में सड़कों पर कितना घिनौना अंधेरा रहता है···

क्या बजा होगा ?

क्या पता ?

चलो, सुबह से पहले तो पहुंच ही जाएंगे···

सुबह ही तो संज्ञा की फीस जमा होनी है···

५

अजगरी सड़क पर पहुंचने से पहले तक सुधीर सुन्न रहा। खुद से भी उससे एक शब्द नहीं बोला गया। पर उस सड़क पर उतरते ही पता नहीं क्या हुआ कि उसके भाव जगत् में से लावा ही लावा फूट कर बहने लगा। खुद सुधीर उस लावे की गर्मी और गति से दहल गया···कुछ देर चकित रहने के बाद वह उस विस्फोट का मूक दृष्टा मात्र रह गया···एक-एक शब्द उसकी नज़रों के नीचे से होकर बहने लगा···

···मिल गए···सुधीर ने दायां हाथ छाती पर बनी जेब पर रखा···सौ-सौ के तीन नोटों की कड़कड़ाहट महसूस की···आवाज ने हाथ को छुआ···उसकी चेतना पर एक ठेस-सी लगी···हाथ छाती पर से गिर कर लटक गया···वह फिर होंठों ही होंठों में बुदबुदाया, "मिल गए।"···कल संज्ञा की फीस चली जाएगी···फीस···आदमी को सुसंस्कृत बनाने की क़ीमत···या भविष्य में जैसे-तैसे नौकरी कर के जिन्दा रह सके उसका 'प्रीमियम'···पढ़ने-लिखने से संस्कृति का तआल्लुक़ क्या है···राममनोहर कितना पढ़ा-लिखा है···कैसे साला बोलता है औरों के और औरतों

"फिर यह टुच्चापन क्यों ?"

"डार्लिंग, मेरे पास देने के लिए एक रुपया ही है।"

"कितने रुपए हैं कुल तेरी जेब में ?"

"चार रुपये तीस पैसे।"

"हिसाब से फ़िफ़्टी-फ़िफ़्टी कर।"

"यह नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता ?"

सुधीर ने कहा, "देख, हिसाब समझाता हूं तुझे। पहली बात यह कि तू इतने दिन बाद मिला है, यह 'आउट आफ ऐटिकेट' है कि साथ बैठकर चाय न पिएं। नम्बर दो यह कि खाली चाय न तुझे पसन्द है, न मुझे, तो एक-एक प्लेट समोसा भी चलेगा। अब जोड़—अस्सी पैसे दो चाय के और अस्सी-अस्सी पैसे की दो प्लेट समोसों की। कितने हुए ? दो रुपए चालीस पैसे। अब बोल, कितने बचे ? एक रुपया नव्वे पैसे। है ना। अब यह तेरी 'चॉयस' है, चाहे नव्वे पैसे ले लियो या एक रुपया। बोल ?"

सुधीर को याद है 'असल' कई मिनट तक उसकी तरफ देखता रहा था। उसकी आंखों में चमक आ गई थी। पता नहीं मौहव्वत की या भूख मिटेगी, इस आशा के कारण। पर यह चमक फौरन मिट गई थी। उसने ढेर सारी गालियां उगलते हुए कहा था, "पर हरामजादे, तुझे पता कैसे चला कि मुझे भूख लगी है।"

सुधीर ने और छेड़ दिया, धीरे से बोला, "तू भी 'असल' बस पागल है।"

और फिर क्या नहीं हुआ। 'असल' ने सुधीर के पूरे खान्दान को लपेट कर गालियां दीं। नई से नई गाली गढ़ने में 'असल' माहिर है। सुधीर को भी द्वेषहीन, स्नेहपूरित गालियां सुनने में बड़ा रस मिलता है। वह चुपचाप खड़ा सुनता रहा और 'असल' ठंडा होता गया। अचानक 'असल' चुप हो गया। मिनट भर सांस लेकर बोला, "तेरा 'ऑफर, अभी है ?"

"है, चल।"

"बिदड़ा नहीं किया ?" साथ चलते-चलते 'असल' ने पूछा।

"मैं कोई पागल हूं।"

"तूने यह मज़ाक किया है ?"

"नहीं, 'सीरियसली' कह रहा हूं, मैं पागल नहीं हूं।"

"इसमें कोई और मतलब तो नहीं है ?"

"मुझे क्या पता ? मैं कह रहा हूं, मैं पागल नहीं हूं, कोई हो, मुझे क्या ?"

पर 'असल' चुप हो गया था। सुधीर ने प्यार से आदमी के उस अपरूप को देखा। मैले चीकट कपड़े, काले-सफेद सरकंडों में से उगा हुआ चेहरा, 'असल' को नयनक्श तीखे पर वक्त की झाड़ू से पिटे। सुधीर ने बांह पर से पकड़ा, कहा, "बताऊं तुझे, मुझे कैसे पता चला कि तुझे भूख लगी है ?"

"बता।"

"मोटी बात। मुझे भी भूख लगी है।"

"पागल का बच्चा। तेरे खयाल से जो और लोग मुझे मिलते हैं, उन्हें कभी भूख ही नहीं लगती। बहकाता है साले मुझे ?"

"उन्हें लगती है, पर वक्त पर। बस, बाहर भी भूख उन्हें उसी वक्त दिखाई देती है। मैं और तू वक्त के मोहताज़ नहीं हैं। भूख किसी भी वक्त लग सकती है, इसलिए किसी भी वक्त जहां होती है, दीख सकती है।"

"सुधीर, तू साले, है जीनियस। उल्लू का पट्ठा। बहनचोद !"

आत्मविह्वल 'असल' को ले जाकर सुधीर ने रैस्ट्रां में बिठा दिया था और दो चाय और दो प्लेट समोसों का आर्डर दे दिया था। चील की तरह टूटकर 'असल' ने समोसे खाए थे। उसकी दाढ़ी मूंछों पर चटनी और समोसे की कतरनें अटकी रह गई थीं। सुधीर ने खुद कई सालों तक 'बोहेमियन' ज़िन्दगी बिताई है पर खाने-पीने में उंगलियों और चेहरे पर कुछ लगा रह जाए यह सुधीर को कभी अच्छा नहीं लगा। वह अपने को आज भी 'बोहेमियन' ही मानता है पर उसको सिद्ध करने के लिए चेहरे पर कुछ चिपकाया जाए यह न उसे पहले अच्छा लगता था न आज। उसे

'असल' का चेहरा देखकर मितली-सी आ रही थी। उसने फौरन बात शुरू कर दी, "असल, तू दाढ़ी मुंड़वा ले।"

"क्यों ?"

"तुझे पता है, तू अगर दाढ़ी मुंडवा दे तो कितना खूबसूरत लगे ?"

"मालूम है। तो ?"

"मुंडवा दे। खूबसूरत लगेगा।"

"बेवकूफ। आदमी को खूबसूरत होना चाहिए। सिर्फ लगना नहीं चाहिए।"

"हो भी और लगे भी तो कोई हर्ज है। पर छोड़, वह सब तेरी समझ में नहीं आएगा, तू साले बुनियादी तौर पर पागल है। मैं तुझे एक और काम बताता हूं। वह करेगा ?"

"बता, सोचूंगा।"

"तू 'सुइसायड़' कर ले।"

इस बार मिनट भर 'असल' टकटकी लगाकर सुधीर को देखता रहा, फिर ठठाकर हंस पड़ा, रुका तो बोला, "साला, मज़ाक कर रहा है।"

"नहीं 'असल', मैं सीरियस हूं।"

"सीरियस है ?"

"हां।"

"पर मैं क्यों कर लूं खुदकुशी ?"

इस सवाल का जवाब देना सुधीर को बहुत मुश्किल लगा। कुछ सोचकर उसने कहा, "देख, मैं बताता हूं तुझे···अच्छा, तू एक बात बता। तूने कभी कोई ऐसा धोबी देखा है जिसके पास धोने के लिए कपड़े तो हों नहीं फिर भी वह दिसम्बर जनवरी की कड़कड़ाती सर्दी में सुबह चार बजे अपने खाली गधे को लेकर जमना घाट जाता हो, और रोज़ जाता हो, बिला नागाह !"

"कोई हर्ज़ नहीं। गधे को 'मार्निंग वाक' पर ले जाना कोई जुर्म है ? ये साले कुत्ते ही क्यों 'मार्निंग वाक' के लिए जाएं ?"

"तेरा खयाल है, मैं मज़ाक की मूड़ में हूं ?"

"और तेरा खयाल है, मैं समोसे खाकर पागलपन की बातें करूंगा।"

सुधीर हतप्रभ रह गया। अब क्या बोले। पर मिनट बाद ही 'असल' ने उसे उबार लिया। बेहद मौहब्बत से बोला, "चल ठीक है, पूछ क्या पूछना चाहता है। जवाब देंगे। तू भी क्या याद रखेगा।···मेरा खयाल है, तू यह पूछना चाहता है कि इतनी घटिया जिन्दगी बिताने के बावजूद मैंने खुदकुशी क्यों नहीं की ?"

"हां, शायद यही।"

"तो सुन, मैं अपनी ज़िन्दगी को घटिया ज़िन्दगी नहीं मानता। मैं खुदकुशी क्यों करूं ?"

"यह बढ़िया ज़िंदगी है ?"

"ज़िंदगी है। बढ़िया-घटिया क्या होती है।"

"तुझे तक़लीफ़ नहीं होती ?"

"नहीं। क़तन नहीं। तक़लीफ़ उनको होती है जिन्हें हर वक्त अपना भविष्य बनाने की चिंता होती है। मैं तो बस, खुद को आज की भूख तक महदूद रखता हूं। तू सच पूछे तो 'आज' भी मुझे तक़लीफ़ कभी नहीं देता। भूख जब भी लगती है, कोई न कोई तेरे जैसा यार आता दीख जाता है। फिर बता···"

अजगरी सड़क थोड़ा-सा बाईं तरफ घूम गई थी। और सुधीर सीधा चलता हुआ सड़क के बीचोंबीच चल रहा था। एक ट्रक सीधे उसके मुंह पर लाइट फेंककर उसे न जगाता तो वह बीच सड़क ही चलता रहता। जागकर उसने देखा कि रात खूब गहरा गई है। चारों तरफ सपाट सन्नाटा है। दांई-बांई दोनों तरफ के लोग सोए पड़े हैं। इक्का-दुक्का मोटर-ट्रक-कार लहराती निकल जाती। चौंकाती हुई। पर सुधीर बहुत गहरे में चल रहा था। पल को जागता, फिर डूब जाता···एक शब्द रह रहकर उसके कानों में बजता और चेतना में उतरता चला जाता—चेतना से शरीर में विष की तरह फैलता और घुटी हुई शिथिलता फैलने लगती···आत्महत्या···उसे आत्महत्या कर लेनी चाहिए···जब कुछ भी

नहीं तैर रहा तो वही क्यों तैरता रहे ?…डूब जाए…हर क्षण घुटे दम से जीते से बेहतर है, एक-दो-पांच मिनट के लिए अचेत होकर दम घुटने का अनुभव करे…जमना का पुल…एक छलांग, और…

…कोई नहीं मरता किसी के बिना…सब पल-बढ़ जाते हैं…

…और न पलें, न हो बड़े…क्यों ज़रूरी है कि सब बड़े हों ही…कुछ यात्राएं क्या छोटी नहीं होनी चाहिएं…छोटी-छोटी यात्राएं बहुत सुखद होती हैं…यात्रा लम्बी हो जाएं तो यात्रा का 'थ्रिल' ही खत्म हो जाता है…'थ्रिल' खत्म हो जाए तो खुद नाव से कूद पड़ना चाहिए…यह व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है…मरा हुआ आदमी ज़िंदा आदमियों में बदबू फैलाने लगता है…शव को श्मशान तक पहुंचाने की कितनी जल्दी मचाते हैं सगे-संबंधी…उसी तरह ज़िंदा लोगों के साथ भी तो…जिनका मन मर गया हो, उन्हें सम्मान से बीच से हट जाना चाहिए…मन क्यों मरा ? किसने मारा ? ये असंगत प्रश्न हैं। हर ज़िंदा आदमी बराबर वाले को मारकर अपने जीवन को उद्दीप्त करता है…शिकार का मज़ा लेता है…आप शिकारी नहीं बन सकोगे तो शिकार बनोगे और हमेशा याद रखना, शिकारी बड़ा होता है, शिकार छोटा ?…यह दुनिया का क़ायदा है…इसे कोई बदल नहीं सकता…और जहां तक छोटे-बड़े की भावना से मुक्त होने की बात है…मुश्किल है, ऐसा एक भी आदमी मिलना मुश्किल है…तुम छोटे सिद्ध हो चुके हो सुधीर, जंगल छोड़ दो… इससे पहले कि मारे जाओ, भाग जाओ…किसी के तेज़ दांतों की पकड़ से बचना चाहते हो तो अपने पैरों की शरण में जाओ, भागो…जंगल का मोह छोड़ो…जंगल आखिर जंगल होता है…

क्या करूं ?

करना क्या है। बस, विदा लो जंगल से।

साथी संगी ?

पागल हो ? खुश होंगे। आदमी कम होता है तो चीज़ खुद-न-खुद बढ़ जाती है…वितरण में आसानी होती है और कई छीना-झपटी की शर्म से बच जाते हैं…कर डालो यह उपकार इस समाज पर…

तो कर डालूं ?

हां, तुम्हारा भला होगा और सब का भला होगा···उनका भी जिनके पास कुछ नहीं है और जिन्हें ज़रूरत है और उनका भी जिनके पास बहुत है और जिनकी भूख अनन्त है···

तो ?

बस—वन लीप फॉरवर्ड···

ओ० के० । पर उससे पहले एक छोटी-सी बात···

क्या ?

आओ, गले मिल लें ।

ठीक है, पर 'लीप फॉरवर्ड' से ठीक पहले···

मंज़ूर ।

पुल आ गया···गहरे अंधेरे के विस्तार में चमकता एक भ्रम, जो आदमी को इधर से उधर उतार देता है···सुधीर तैयार है···उसका विवेक खिसककर नेपथ्य में जा चुका है और उसकी आवाज़ बुलबुलाहट में बदल चुकी है···मन मृत-शांत है···काया में नैसर्गिक शैथिल्य है···बस, आंखें खुली हैं और अमूर्त्त ठोस काले विस्तार को ठोस काले पत्थर में बदल रही हैं···यह प्रक्रिया जब पूरी हो जाएगी तो सुधीर धीरे से काले पत्थर पर जाकर खड़ा हो जाएगा···और सब ठीक···जिससे सुधीर गले मिलना चाहता था···वह भी चला गया···पता नहीं कब···अब कहीं कोई आवाज़ नहीं···बस, एक आवाज़ है, बहुत मधुर···बहुत तरल···बहुत वेदनामय···अमूर्त्त के मूर्त्त में बदलने की···पूरी बहती नदी के धीरे-धीरे जमकर बर्फ होने की···पिघलकर बहने में शोर बहुत होता है···पर बहते पदार्थ के जमने की प्रक्रिया एक विश्वग्रासी प्रशांति को उत्कीर्ण करती है···और उसकी अनुभूति···

कोई किसी से बोल रहा है, "जा रहे हो ?"

"हां ।"

"क्यों ?"

"पता नहीं । क्यों आया था यह भी किसी ने नहीं बताया ।"

"सोचा है, पत्नी का, बच्चों का क्या होगा ?"

"ज़िन्दा रहेंगे। बाक़ी के लोग ज़िन्दा रहते हैं।"

"प्रतिभा ?

"मुक्ति का सांस लेगी।"

"यह तुम्हारा पश्चात्ताप है ?"

"कुछ नहीं है, बस, यात्रा का अन्त है। एक निरर्थक यात्रा क अन्त।"

"तुमने कुछ किया क्यों नहीं, अपने जीवन में ?"

"पता नहीं। शायद सिर्फ कपास बोता-काटता रहा और कपड़ बुनना···तुम जाओ···मुझे तंग न करो···मेरे जाने का वक्त···देखो, कैस ठोस काले पत्थर का हिमालय मुझे पुकार रहा है···

"ठीके है, जाओ, फिर आना···

"इतनी बड़ी ग़लती···फिर···नहीं···"

पर पूरे जीवन में जो होता रहा, वही उस दिन हुआ···सुधीर का ह प्रयास फुस्स होने के लिए शापग्रस्त है···

अंधेरे में रेत उसे पानी दीखा···चोट तो बिल्कुल नहीं आई पर दिमाग़ उसका एकबारगी ही विक्षिप्त हो उठा···उसे गिरते देखकर बहुत से लोग नीचे रेत पर उतर आए और उसके चारों तरफ इकट्ठे हो गए ···किसी ने कुछ पूछा, किसी ने कुछ···वह प्रश्न-भरी दृष्टि से सब की तरफ देखता रहा···लोगों ने समझ लिया आधा पागल है···घसीट-धकेल कर उसे ऊपर लाए और एक तरफ को खिसकाकर छितर-बितर हो गए ···सुधीर फिर अपने घर की तरफ खिसकने लगा···अब भी उसके दिमाग़ में सवारी लेने की बात नहीं आई···दिमाग़ उसका उस समय शायद काम कर ही नहीं रहा था···

आत्म-हत्या के प्रयास का केस सिर्फ इसलिए नहीं बना कि पुल पर तैनात सिपाही को उस पर रहम आ गया···पागल है, जाण दो घर··· नहीं तो फंसा फिरैगा···

सुधीर घर पहुंचा…

"खाना ?" रमा ने पूछा।

"नहीं।"

"हो गया संज्ञा की फीस का इन्तजाम ?"

"हां।"

"यह तुम्हारे कपड़ों पर रेत…?"

सुधीर चुप रहा।

"कहीं गिर गए थे ?"

"हां।"

"कपड़े बदल लो।"

"मेरी खाट ?"

"क्या हुआ ? कुछ तबीयत खराब है ?"

सुधीर चुप रहा। इधर-उधर देखकर अपनी खाट पहचानी और गिरकर ढेर हो गया।

६

उस दिन की लिपटी काली चादर सुधीर के शरीर पर से कभी नहीं उतरी। सुधीर की बाईं आंख के ऊपर माथे पर उसी दिन से हल्का-हल्का दर्द रहने लगा। एक भारीपन-सा। जो कभी-कभी खूब तेज चसक जैसा हो जाता। चारों तरफ घूमती दुनिया में उसकी रुचि और भी कम हो गई। चीजों को उसने सिर्फ खबरों के स्तर पर पकड़ना आरम्भ कर दिया। संज्ञा और भास्कर बहुत नजदीक आ चुके हैं। उन्होंने एक 'युवा ऋतंवादी दल' बनाया है, जिसकी सक्रियता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है।

रमा नौकरी पर जाने लगी है। संज्ञा ने खुद कुछ ट्यूशन पकड़ लिए हैं। किसीने पगली को जान से मारने की कोशिश की। वह बाल-बाल बच गई। रेल की पटरियों पर दो आदमी और कट गए। पीछे की पोश कालोनी में दो रुपये और बीस रुपये का नोट और डाक टिकट छापनेवाली एक मशीन पकड़ी गई। हरद्वारी बहू को जलाकर मारने के आरोप से बरी हो गया। कीकर के जंगल में दो गुटों की सारी रात लड़ाई हुई, पत्थरों और लाठियों से, बहुत लोग घायल हुए, मरा कोई नहीं। पुलिस ने सुबह फैसला करा दिया। सब ने हाथ पैर जोड़े···

सुधीर ने लिखने की बहुत कोशिश की। कुछ नहीं हुआ। रमा का काम करना उसको तकलीफ़ दे रहा था। उससे रहा नहीं गया। उसने भी थोड़ा-बहुत प्रूफ-रीडिंग का काम आसपास से पकड़ना शुरू कर दिया। पर उसे लगा यह काम उसके सिरदर्द को बढ़ाता है, उसमें पिनें चुभने का 'इफैक्ट' पैदा करता है···फिर भी···

हां, मुक़दमे की तारीख के दो दिन पहले से वह बहुत सतर्क होता है···

एक दिन संज्ञा ने कालेज से आकर कहा, "पापा आज शाम को मेरे कुछ दोस्त आएंगे। भास्कर भी; बातचीत में हिस्सा लोगे?"

"लूंगा। श्रोता की हैसियत से।"

संज्ञा हंस पड़ी, बोली, "आपकी जनरेशन, पापा, इतनी 'हिपोक्रेट' क्यों है?"

"इसमें क्या 'हिपोक्रेसी' हो गई?"

"मतलब, कोई तुमसे कुछ पूछेगा, तो जवाब नहीं दोगे, कहोगे—मैं श्रोता हूं। अरे, कहो उत्साह से कि हिस्सा लोगे। हम लोगों की चुनौती झेलने को तुम लोगों को तैयार होना चाहिए।"

"कोई चुनौती है, तुम्हारी तरफ से?···पर छोड़ो, लेकिन मैं तो अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधि नहीं हूं। वैसे भी मैं हर दृष्टि से असफल आदमी हूं। मैं···"

संज्ञा बिलबिला गई, चेहरे पर गहरी भावना लाकर बोली, "मैं तुम्हें असफल आदमी नहीं मानती। जो आदमी हर परिस्थिति में अपनी ज़िद

पर अड़ा रहे, अपने सिद्धान्त को न तोड़े और जिसका सोचने का अपना अलग तरीका हो, वह कभी असफल नहीं कहला सकता। तुम जिसे सबसे कम महत्त्व देते हो—पैसा और दुनियावी कामयाबी—बेहद अफ़सोस की बात है, वही तुम्हारी हीनता-ग्रन्थि का कारण है। अपने ही अन्दर के सांप की कुंडली में जकड़ा आदमी, पापा···तुम्हें इससे मुक्त होना चाहिए··· तुम···"

"संज्ञा!"

"हां पापा!"

"तुमसे ज़रा-सी ग़लती हो गई पहचानने में।"

"क्या?"

सांप तो मेरे ही अन्दर का है, पर वह उस कारण नहीं जन्मा जो तुम समझी हो, वह···"

"मैं नहीं सुनना चाहती वह किस कारण जन्मा है, मैं चाहती हूं, तुम उसे कुचल दो, उसके प्रभाव से मुक्त हो जाओ, सही मानी में मेरे पापा हो जाओ।" कहते-कहते संज्ञा विह्वल हो उठी। पलंग पर बैठे सुधीर के पास ही बैठ गई और उसकी तरफ टुकुर-टुकुर ताकने लगी।

संज्ञा की दृष्टि से बचने के लिए सुधीर ने कहा, "संज्ञा, एक कप चाय ही ले आ बनाकर, फटाफट।"

"कहती हूं अम्मां से।"

"ओफ़्फोह! संज्ञाजी, अच्छी चाय चाहिए।"

"अम्मां अन्दर रसोई में हैं। तुम्हें डर नहीं लगता?" कहकर संज्ञा हंस पड़ी।

सुधीर भी हल्का हो गया था। बोला, "लगता है, पर मुझे कैसे मालूम वह रसोई में है। मैंने तो समझा, अभी आई ही नहीं।"

"अरे पापा, तुम्हें इतने दिनों में इतना भी पता नहीं चला कि अम्मां जब रसोई में होती हैं तो ऐसा लगता है जैसे दसियों चूहे एक साथ खटर पटर कर रहे हैं।"

सुधीर लेकिन कुछ सोचने लगा था। मजाक का मज़ा नहीं ले सका। बोला, "पर आज जल्दी क्यों आ गई?"

"पता नहीं।"

"रमा, ओ रमा !" सुधीर ने अधीर होकर पुकारा।

रमा हमेशा की तरह धोती के पल्ले से हाथ पोंछती हुई अन्दर घुसी। आकर खड़ी हो गई। रोज की तरह 'क्या है' नहीं कहा।

सुधीर और संज्ञा, दोनों ने रमा का चेहरा देखा।...भारी था।

"क्या हुआ रमा ? जल्दी क्यों आ गईं ?"

"नौकरी छोड़ दी।"

"अच्छा किया...बहुत अच्छा किया...पर हुआ क्या ?"

रमा के चेहरे पर एक गहरी वितृष्णा का भाव उभरा पर उसने फौरन ही उसे दबा दिया, कहा, "चाय रख दी है।"

"पर हुआ क्या ?"

"कोई और नौकरी तलाश करूंगी।"

"पर—"

"छोड़ो, यह पर-पर, चाय पियो और करो लफ़्फ़ाजी। जिनका पेट बातों से भरता हो, उन्हें क्या जरूरत है यह जानने की कि दुनिया में क्या हो रहा है।"

कहकर रमा अन्दर चली गई।

सुधीर और संज्ञा दोनों पर सकता छा गया। दोनों समझ गये, कुछ अनिष्ट घटा है। संज्ञा के चेहरे पर तनाव इतना गहरा हो गया कि सुधीर देखकर घबरा गया। उसका अपना मन बहुत तीता हो गया था और अचानक सिर में तीखे दर्द की लहरें उठने लगी थीं। संज्ञा मिनट भर सुधीर का विकृत होता चेहरा देखती रही। उसे अन्दर से एक विरक्ति का अनुभव हुआ, एकदम ठंडी आवाज में उसने कहा, "तुम्हें पता है पापा, अगर तुम दोनों में कभी झगड़ा हुआ तो मैं किसी की तरफ हूँगी ?"

सुधीर ने शुष्क स्नेह से संज्ञा की तरफ देखा और बेहद मन्दी आवाज में कहा, "पता है, रमा की तरफ, तुम ईमानदार लड़की हो।"

"तुम्हें दुख नहीं होगा ?"

"होगा। तुम्हारे बिछुड़ने का। पर तुम्हारी सही निर्णय लेने की

क्षमता पर खुशी भी होगी।"

संज्ञा हतप्रभ रह गई। मुग्ध भाव से पिता की ओर देखती हुई बोली, "ओह! पापा! तुम बहुत 'डिसैप्टिव' हो, पता ही नहीं चलता कि—"

पर इससे पहले कि संज्ञा बात पूरी करती रमा ने दोनों के बीच चाय रखते हुए बात काट दी, "लो, चाय पिओ, गला सूख गया होगा।"

दोनों चुप होकर चाय पीने लगे। रमा का चेहरा अब कुछ सहज था। दोनों ने नहीं चाहा कि नौकरी की बात शुरू करके फिर उसका मूड़ खराब किया जाये।

चाय पीकर संज्ञा अपने दोस्तों के स्वागत की तैयारी में लग गई।

कुल मिलाकर छैं लोग आए। भास्कर, सुनीला, मिलिन्द, राजीव, रेणु और मंजूषा। सब एकदम युवा। एकदम ताजे, हृष्ट-पुष्ट। सुधीर को बहुत अच्छा लगा। उसकी मूड़ कुछ-कुछ ठीक हो गई। नये खून का अदृश्य प्रभाव उसे अनुभव होने लगा। सब बी० ए०, एम० ए० के छात्र थे। पहले तो कुछ देर फुटकर हँसी-मज़ाक और चाय होती रही। फिर अचानक संज्ञा ने जैसे 'क्लैप' कर दिया, "भास्कर, क्या कह रहे थे तुम उस दिन कि हमारा सारा भारतीय समाज अनैतिकता का नहीं एक सामूहिक निर्नैतिकता का शिकार है, हमें सबसे पहले इस पर चोट करनी चाहिए। अनीति से आदमी लड़ सकता है, पर निर्नीति से कैसे लड़े? यही हमारे देश के बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों का संकट है कि वे इस तथ्य को पहचान नहीं पा रहे हैं। किसी भी तरह की 'मौरल सैन्स' का होना समाज-परिवर्तन के लिए बहुत आवश्यक है। यहां थी ना तुम्हारी बात? एम आई क्लीयर?"

भास्कर ने कहा, "हाँ, मैं यही कह रहा था।...मेरी धारणा यही है। पर सुविधा के लिए इस प्रश्न को तीन हिस्सों में बाँट लें। यह स्थिति है या नहीं? यह समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में बाधक है या सहायक और ऐसी स्थिति क्यों है? क्यों सुधीर जी, आप का क्या मत है? आप मेरी इस धारणा से सहमत हैं?"

सुधीर ने इस दृष्टि से कभी नहीं सोचा था। पर बात कानों में पड़ते

ही दिमाग़ को गुँजा गई। उसने कहा, "वात तो वहुत सच लग रही है। पर वहस से पहले मैं अनैतिक और निर्नैतिक का भेद समझना चाहूंगा। यानी 'एमॉरल' और 'इम्मॉरल' क्रियाओं को अलग-अलग पहचानने का मापदण्ड ?"

"यह वताना तो वहुत मुश्किल है।"

"तो पहले इसी पर वात करें।"

"आप वताइये।"

सुधीर सोचता रहा। फिर वहुत धीरे-धीरे वोला, "ये दो रुझान हैं, मानसिक, जिनका फर्क शायद वही समझ सकता है जो इनका भोक्ता है, वाहर का आदमी कैसे समझेगा। फिर भी मैं समझता हूं कि 'एमॉरल' में शायद 'गिल्ट' नहीं होता।"

"गिल्ट तो 'इम्मॉरल' में भी नहीं होता। पैदा हो जाये तो वह खुद को वदलना शुरू कर दे।" भास्कर ने तत्काल कहा।

इस वार सुनील वोला, "वैसे भी गिल्ट तो उनमें होगा जिनमें 'कान्श्यैन्स' होगी, उसके विना गिल्ट कैसे होगा।

"तो फिर कैसे पहचानें ?" मिलिन्द ने पूछा।

और सुधीर ने थोड़ा रुक कर कहना शुरू किया, "देखिए, मैं इसे ऐसे समझता हूँ कि एमॉरल अपने सारे सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार में एमॉरल होगा, जो मन आएगा सो करेगा, जो अच्छा लगेगा सो करेगा, क्योंकि पूरा मूल्य-तंत्र उसे छूता ही नहीं। न उसमें अपने किसी भी ऐसे कामों के परिणामों का भय होगा, न ही यह जोड़-तोड़ कि इस परिणाम से वचने के लिए यह करना है, क्योंकि समाज तो अपने नियम-क़ानून के तहत उसे सज़ा देगा ही। पर दूसरी तरफ 'इम्मॉरल' वहुत चालाक आदमी होता है। वह अपनी सुविधा के लिए कहीं वहुत मॉरल होता है और अपने सुख के लिए कहीं 'इम्मॉरल'। साथ ही परिणामों से वचने की वह भरसक कोशिश करता है। इस व्यक्ति की सवसे वड़ी विशेषता यह होती है कि जो मूल्य खुद तोड़ता है, उसी मूल्य को यदि कोई दूसरा तोड़ता है तो इसे वहुत तकलीफ़ होती है। इस प्रक्रिया में एक और तथ्य उजागर होता है, वह वहुत मनोरंजक है। अमीर लोग उन मूल्यों से खेलते हैं

जो अधिक व्यापक महत्त्व के होते हैं और गरीब उन मूल्यों को ताड़ते हैं जो संकुचित प्रभाव के होते हैं। यह शायद इसलिए होता है क्योंकि अमीरों का परिणामों से वचने के लिए वना दुर्ग ज्यादा मजबूत होता है, और गरीवों के पास तो दुर्ग होता ही नहीं। ऊँची सोसायटी में एक खास वात और होती है कि वे इस सारी प्रक्रिया को एक 'क्लास मैनरिज़्म' का नाम देकर अन्दर और वाहर की हास्यास्पदता से वच जाते हैं। यह भी सम्भव है कि देश के साधनों को अधिक से अधिक अपने लिए सँजोने की प्रक्रिया में जो भारीपन उनके मन पर आता हो उसको यही तेज़ाव थोड़ा वहुत साफ कर पाता हो।"

"उनके मन पर वज़न आता है ?"

"हाँ, शायद जरूर आता है। आदमी आदमी ही रहता है, पत्थर नहीं वन सकता।"

इस वार संज्ञा ने कहा, "तो तुम्हारे हिसाव से तो पापा, भास्कर की वात ग़लत सावित हुई। हमारे समाज में स्थिति अनैतिक ही है, निर्नैतिक नहीं। और यह भ्रम सिर्फ इसलिए होता है क्योंकि वहुत वड़े पैमाने पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की जा रही है। पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा या नकार और पूरे मूल्य-तंत्र से ऊपर उठना तो दो वातें हुई ना ?"

"हाँ, वहुत फ़र्क है। और भास्कर मैं अपने पक्ष में एक वात और कहना चाहता हूं। तुम्हें चारों तरफ ध्यान से देखने से महसूस होगा कि हमारे यहाँ शायद ही कोई ऐसा आदमी मिले जिसमें किसी भी अपने वुरे काम को लेकर 'गिल्ट' हो। इतना उद्वेगरहित समाज शायद ही दुनिया के तख्ते पर दूसरा हो। इस वात की चिन्ता में तो सव मिल जायेंगे कि देखो वह आदमी इतनी तरक़्क़ी कर गया और मैं पीछे रह गया, तो भागो। और तत्काल वे ही तरीके अपना लेंगे जो आगे वाले ने अपनाए होते हैं, पर कम ही लोगों को मैंने आत्मिक द्वन्द्व की स्थिति में देखा है और यही कारण है शायद कि हमारे यहाँ सोच का स्तर दिन पर दिन गिरता जा रहा है। सोच तो मानसिक द्वन्द्व में से आता है। अपने हिन्दी के लेखकों की ही वात लो…"

संज्ञा ने वात काट दी, "नहीं पापा, अपनी कहानी नहीं। यह वता

सको तो बताओ कि हम लोग क्या करें और शुरुआत कहाँ से हो।"

सुधीर एकदम संकुचित हो उठा, बोला, "मैं क्या बता सकता हूं। हाँ, इतना ज़रूर महसूस करता हूं कि हमारे समाज में सोच की सब प्रक्रियाएं सूखी पड़ी हैं। बुद्धिमान लोग तक सोचने से कतराने लगे हैं। इन्हें हरा कर सको तो शायद..."

"पर कैसे ?"

"यह मैं नहीं जानता। पर आप लोग तो कुछ काम शुरू कर चुके हैं ?"

"हाँ, कुछ कार्यक्रम किए तो हैं हमने मजदूर-बस्तियों में।"

सुधीर चुप हो गया। अचानक उससे कुछ नहीं कहा गया।

इस बार राजीव ने पूछा, "आप चुप क्यों हो गये ? हमें शुरुआत यहीं से करनी चाहिए ना ?"

सुधीर ने भास्कर की तरफ देखा। उसकी बड़ी बड़ी तेजस्वी आँखें उसी पर टिकी थीं। सुधीर ने कहा, "मेरे विचार से जड़ता यहां 'इलीट" में है, बुद्धिजीवियों में। उसे तोड़ना चाहिए पहले। मज़दूर कभी जड़ नहीं होता। सोते आदमी को जगाओ, जागते को..."

"पर 'इलीट' तो यहाँ का बहुत निकम्मा है।"

"वही तो, उसमें एक 'मॉरल सैन्स' पैदा करने का प्रयास करना चाहिए। उनकी 'कान्श्यैन्स' को झिंझोड़ कर जगाने की कोशिश करनी चाहिए। जिससे वह खुद सोचना शुरू करे। कोई हर्ज नहीं, सोच किसी भी विचार धारा से मेल खाती हो। पर सोच सोच होती है। उसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है..."

"पर प्रश्न तो यही है, यह हो कैसे ?"

सुधीर ने निराश भाव से कहा, "यह मैं नहीं जानता। मैं यह कभी नहीं जान पाया। पर मेरा यह विश्वास है कि रास्ता यही है।"

"कुछ राजनीतिक पार्टियें कर तो रही हैं।"

इस बार सुधीर हंस पड़ा, बोला, "पार्टी के हैंड-आउट रटवाने को नया बुद्धिजीवी तैयार करना नहीं कहते। अन्दर की आग के बिना बनी बनाई विचारधारा को याद कर लेना विश्वविद्यालयीय शिक्षा ही...

तरह की चीज़ है। मैं उस आग को जलाने की बात कर रहा हूँ जिसकी लपटें अपने स्वधर्म में से विचार बनाती हैं। मेरा मतलब…"

इस बार कई लोग इकट्ठे बोल उठे, "पर यह हो कैसे ? इसकी शुरुआत कहाँ से हो ?"

कुछ देर सब चुप रहे। फिर वातावरण को हल्का-फुल्का करने के लिए हँसी मजाक करने लगे। रमा ने संदीप और समीर की मदद से सबको चाय नाश्ता दिया। सुधीर को चाय देते हुए रमा ने हँसकर कहा, "तुम्हारा पेट तो भर गया होगा। नाश्ता तो क्या करोगे ?"

"चाय तो दो। जो खाया है, गले के नीचे उतरे।"

"किसी और को तो तुमने बोलने दिया नहीं। बिना बात बच्चों को बोर किया। कोई घर तुम्हारे आ ही जाये तो उसकी इतनी जान क्यों खाते हो कि दोबारा इधर का रास्ता ही न भूले।"

सुधीर खिसिया गया। झेंप मिटाने के लिए भास्कर की तरफ मुंह कर के बोला, "क्यों जी, भास्कर डियर, मैंने आप लोगों को बोर किया है ?"

भास्कर हँस पड़ा, बोला, "नहीं तो, बोर तो नहीं किया पर यह तो सच है ही, कि आपमें 'सेन्स आफ ह्यूमर' जरा कम है। बात को आप भारी तो बना देते हैं।"

सुधीर मान गया, "हां यार, यह रोग तो मुझ में है।"

सब हँस पड़े। वातावरण एकदम सहज हो गया। चाय पीकर एक-एक कर सब चले गये। भास्कर भी चला गया। सुधीर भास्कर से बहुत प्रभावित हुआ था। उसका बैठने-उठने का ढंग। दाढ़ी में से उगता हुआ चेहरा। सिर पर हल्के सुनहरे उलझे-उलझे घुंघराले बाल और दो बड़ी-बड़ी दार्शनिक आँखें, सुधीर को मोहित कर गई थीं। उसने संज्ञा से कहा, "प्रतिभाशाली आदमी है।"

"कौन ?" संज्ञा कुछ सोच रही थी।

"भास्कर !"

"वह तो है ही।…पापा एक बात पूछूं ? बुरा तो नहीं मानोगे।"

"तुझे मेरे बुरा मानने की कब से चिन्ता होने लगी ?" सुधीर ने

हँसकर कहा।

"फिर भी। बोलो ?"

"नहीं मानूँगा। पूछ।"

फिर भी मिनट भर संज्ञा चुप रही। अन्त में दुविधा जीतकर बोली, "ये, प्रतिभा जी भी तो काफी अमीर हैं ?"

"तो ?"

"तुम जो अमीरों के बारे में बोल रहे थे। उनके बारे में भी सच है ?"

अब सुधीर समझा। उसके चेहरे पर एक बहुत स्नेहसिक्त मुस्कान खिंच आई। उसने धीरे से कहा, "तुझे एक बात बताऊं संज्ञा ?"

"हूं।"

"मैंने पिछले दो सालों में जो प्रतिभा से सीखा है, बीस सालों में अपने वर्ग से न सीख पाया।"

"कैसे ?"

"अपने वर्ग के अपराधों को लेकर जितना गिल्ट उसमें है अपने अपराधों को लेकर भी शायद ही किसी में मैंने देखा हो। तुझे मालूम है, किसी जगह किसी अपरिचित के भूख से मरने की खबर उसे कई-कई दिन के लिए खाने से विरक्त कर सकती है···संज्ञा, जो दूसरों के दुख को अपना दुख और किसी और के अपराध को अपना अपराध मान सकते हैं उनका कोई वर्ग नहीं होता···फिर स्त्रियों को तो वैसे भी इस सबसे अलग मानना चाहिए।"

"क्यों ?"

"स्त्रियों का वर्ग-चरित्र उन पर आरोपित किया जाता है।"

संज्ञा पल भर चुप रहकर बोली, "पापा, किसी दिन उन्हें घर बुलाओ ना।"

"बुलाएंगे बेटे, जरा कुछ ठीक-ठाक हो जाए।"

"सुन्दर बहुत है, सुना है।"

"संज्ञा, अन्तःकरण साफ हो, विवेक सजग हो, शरीर उद्दीप्त हो तो व्यक्ति सुन्दर लगता ही है।" सुधीर भावमुग्ध बोला। यह भ

कि वह किससे बोल रहा है।

पर संज्ञा सहज जिज्ञासा से भर गई थी। बोली, "तुम पापा, उन पर मोहित हो?"

सुधीर ने संज्ञा की तरफ देखा। चेहरे पर व्यंग नहीं था, सहानभूति थी। उसे बहुत अच्छा लगा। बेटी दोस्त की तरह बोल रही थी। उसे थोड़ा गर्व भी हुआ अपने पर। ठीक शिक्षा दे रहा है वह बच्चों को। मानसिक रूप से स्वतंत्र हैं। कुछ और नहीं दे सका, कम से कम यह तो दिया। उसने संज्ञा का हाथ पकड़ कर पास ही पलंग पर बैठा लिया। छोटी-सी थी, कैसी बड़ी-बड़ी-सी लगने लगी है। उसने धीरे से कहा, "हां, हूं तो। पर मैं अपनी सीमायें समझता हूं संज्ञा। तुझे मेरी वजह से कभी शर्मिन्दा नहीं होना पड़ेगा। फिर तू जानती ही है, मैं रमा से कितने गहरे में बंधा हूं। उसको अपमानित करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। और सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि प्रतिभा मुझे तब मिली है जब मैं जाने की तैयारी में हूं।"

"जाने की तैयारी में? कहाँ जाने की?"

"तुझे खाना नहीं खाना?"

"खा लूंगी। पर बताओ ना।"

"तू और बड़ी हो जा, बताऊंगा।"

पुराने स्टोव की आवाज़ का एक सुख यह है कि वह खाना बनाते आदमी को कुछ सुनने नहीं देता। संज्ञा खाना लगवाकर सुधीर के पास ही कमरे में ले आई। सुधीर की आदत है वह खाना सबसे बाद में खाता है। इसलिए कोई उससे नहीं पूछता। सबके खा लेने पर उसे ला दिया जाता है और वह चुपचाप खा लेता है।

संज्ञा ने खाते-खाते पूछा, "पापा! एक बात बताओ?"

"क्या?"

"वह भी तुम से प्रेम करती हैं?"

सुधीर हँस पड़ा। बोला, "मुझे नहीं पता। प्रेम का शायद मेरा कोई अनुभव भी नहीं है इसलिए जानता भी नहीं कि प्रेम कैसा होता है। पहले कई तरह के रिश्तों में प्रेम का भ्रम बनाया पर वह भ्रम जल्दी

ही टूट गये । जहाँ तक ...

मानसिक स्वास्थ्य के प्रति ...

रहे यह चिन्ता उनके ...

जो मूल है, मुझे लगता है ...

नहीं यह ऐसा है कि नहीं ...

बहुत है । और ...

और वह यह कि वह ...

यह शायद मेरे जीवन का ...

बताऊं । आदमी को आदमी के ...

है । नहीं ?

"वह काम अच्छा ने नहीं किया ...

"किया और बहुत ...

कारण । महत्त्व वह नहीं ...

किसी बाध्यता के, बिना किसी ...

संजा ने सोचते हुए कहा, ...

"तू यह मानती है संजा, ...

"नहीं पापा ! वह नहीं ...

परिचित हूं···पर···" संजा ने ...

की तरफ देखा ।

"पर क्या ? बात पूरी ...

"मैं कह रही थी, ...

सुधीर का स्वर बहुत ...

उसकी मुझे बेपनाह ...

न तुम से, न रमा से, न ...

रही है । कितने दिनों से ...

था । मेरा स्वार्थ ही समझ ...

कहें कि एक 'आदमी' ...

"मैं समझती हूँ पापा, ...

कभी कुछ बताया तो नहीं ...

सालों से, जब से मैंने होश सँभाला है, तुम तक़लीफ में हो और हम लोग सम्बन्धों की बाध्यता के कारण उस तक़लीफ में साझीदार हैं। दूर इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि सम्बन्धी हैं। मैं जानती हूँ, तुम असमर्थ नहीं हो, तुम्हारी सामर्थ्य में घुन लगा है। पर पापा…"

"ठहरो संज्ञा! तुम लोग मेरी तक़लीफ में नहीं, उस तक़लीफ के परिणामों में साझीदार हो।"

"तक़लीफ तुमने कभी बताई ही नहीं।"

"वह कभी बताई नहीं जाती।"

"तो ?"

"बस, आदमी जान जाता है।"

"तुम्हारा मतलब, मैं या माँ तुमसे प्रेम नहीं करते ?"

"मैंने यह नहीं कहा।"

"और क्या मानी हैं तुम्हारी इस बात के ?"

सुधीर को लगा संज्ञा कहीं अन्दर चोट खा गई है। वातावरण को हल्का करने के लिए हँस पड़ा, बोला, "संज्ञा बेटे, गुस्सा नहीं हुआ करते।"

"मैं गुस्सा नहीं हूँ, पर जवाब मुझे मिलना चाहिए।"

कुछ देर सुधीर चुप रहा। फिर बोला, "अभी ?"

"हाँ।"

"और अगर मैं कहूँ, तुम जैसी समझदार लड़की को यह बात भी खुद ही समझ लेनी चाहिए थी।"

"चलो, मैं मूर्ख भी हूं। अब बताओ।"

"लड़ने की मूड़ में हो ?"

"मेरा हक़ है।"

"तो सुनो संज्ञा, मैं मानता हूं कि तुमने और रमा ने मुझसे प्रेम तो बहुत किया पर मेरे प्रति करुणा का अनुभव कभी नहीं किया। मैं करुणा को प्रभाव की व्यापकता में प्रेम से बहुत बड़ा मानता हूँ। प्रेम टूटता-जुड़ता है, शरीर-मन पर अच्छे-बुरे प्रभाव पैदा करता है, करुणा में ऐसा कोई दोष नहीं है। हमेशा से शायद मुझे प्रेम से भी अधिक करुणा की

जरूरत थी। मैं बीमार आदमी हूं··· चलो छोड़ो, खाना खा लिया ?"

"हाँ।"

"तो पढ़ो। छोड़ो, इस सब वाहियात को।"

"प्रतिभा जी में तुम्हारे प्रति करुणा है ?"

"हां, शायद ढ़ेर सारी।"

"कुछ दे देने को करुणा मानते हो ?"

"हां, और कुछ न देने को भी करुणा ही मानता हूँ। पर संज्ञा, मैंने तुम्हें कहा ना, और कुछ बड़ी हो जाओ। तब मैं और भी बिना संकोच के तुम से बात कर सकूंगा।···एक छोटी-सी बात और, जिनसे प्रेम किया जाता है, उन्हें अपमानित कभी नहीं किया जाता।···यह याद रखना उम्र भर।"

बात फिर भी खत्म नहीं हुई, टूट गई। संज्ञा ने बर्तन अन्दर रख दिये और यहाँ-वहाँ खड़ी होकर वह अपनी किताबें लेकर कुर्सी पर बैठ गई। संदीप और समीर की जोड़ी एक कोने में बैठे किताबें खोलकर पढ़ने का नाटक कर रहे थे। जोर-जोर से पढ़ाई और लड़ाई की आवाजों का 'कोलाज' कमरे के विचार-जड़ वातावरण में रस का संचार कर रहा था। रमा शायद खाना बना चुकी थी। अचानक सुधीर को कुछ ध्यान आया। उसने जोर से पुकारा, "रमा !"

रमा ने अन्दर से ही कहा, "क्या है ?"

"क्या हुआ ? क्या कर रही हो ?"

"कुछ नहीं।"

"इधर आओ ना।"

"मैं लेट गई हूं।"

सुधीर बौखला गया, "अभी से ?" फिर संज्ञा से बोला, "देख तो संज्ञा, क्या हुआ ?"

"मैं पढ़ रही हूँ" संज्ञा ने विरक्त भाव से कहा। साथ ही वह शोर मचाते दोनों भाइयों पर उबल पड़ी, "चुप होकर पढ़ो। क्या मछली बाज़ार बना रखा हैं। पढ़ना न लिखना। ऐसा लग रहा है जैसे चने बेच रहे हैं।"

सुधीर ने वातावरण में तुर्शी देखी तो फिर रमा को पुकार उठा, "अरे रमा, यहां आओ ना। ऐसा भी क्या है। आसन-पट्टा लेकर पड़ गईं। अरे नौकरियां तो सब की छूटती हैं। हमें देखो...पर बताओ तो सही, हुआ क्या..."

रमा ज़िद कभी नहीं करती। अन्दर आकर कुर्सी पर बैठ गई। बोली, "बोलो, क्या है? क्या लड्डू दे रहे हो।"

"क्या हुआ?"

"होना क्या है, बस, छूट गई। और देख लूंगी।"

पर हुआ क्या? कैसे छूट गई? उसने मना किया?"

रमा तिलमिला गई। बोली, "वह क्या मना करता। जब तुम जैसा कठोर मालिक मुझे इतने सालों में नौकरी से नहीं निकाल पाया तो वह बेचारा क्या निकालता..."

"तो?"

"अरे! नहीं मन हुआ। मना कर आई।"

सुधीर झुंझला उठा, "ठीक से बताओ, क्या हुआ? बिना कारण ...म मना नहीं करोगी, मुझे मालूम है।"

"तो सुनो, वह बदतमीजी से बोला।"

"क्या कहा?"

संज्ञा अब तक चुप थी। अपनी किताब में सिर गड़ाए। सुधीर के ...स प्रश्न पर उसने सिर उठाया और बेहद ठंडी आवाज़ में कहा, "यह ...त पापा, उससे पूछी जाती है, जिसने बदतमीजी की होती है। तुम ...नते हो, अम्मा झूठ नहीं बोलतीं। पर ये कुछ बतायेंगी तो बात ...स्यास्पद हो जायेगी। चाहो तो सुबह उसी से पूछना...और इस समय ...या यह स्नेह-सहानभूति का नाटक बन्द करो। मुझे पढ़ने दो। कल ...ा 'ट्यूट' है।"

'धीरे-धीरे घूमती वक्त की गरारी अचानक रुककर जाम हो गई। ...ों के सिर झुक गये। रमा तो उठकर चुपचाप रसोई में अपनी चार-... पर लेट गई पर सुधीर बहुत देर तक सुन्न मानसिक स्थिति में कुर्सी ... बैठा, संज्ञा को पढ़ते देखता रहा।

उसे यह भी पता नहीं चला कि कब पढ़ते-पढ़ते संदीप और समीर वहीं जमीन पर लुढ़क कर सो गये हैं।

उसने सोचा, सोने दो, सर्दी नहीं है, गर्मी का मौसम है···

७

इतवार का दिन। अक्तूबर का महीना। सर्दी खिड़कियों से ताक-झांक करने लगी है। संज्ञा को इतिवार के दिन देर तक सोने की आदत है। रमा तो सोते हुए कम ही दिखाई देती है। संदीप और समीर बहुत सुबह से उठकर पहले दिन के झगड़े निपटाते हैं और नये झगड़ों की बुनियाद डालते हैं। दोनों के खेल सुधीर के मन को बहुत उत्फुल्ल करते हैं···आज वैसे भी सुधीर का मन कुछ कम उदास है···

वह उठकर कुर्सी पर बैठ गया है···सोच रहा है···

रमा चाय बना रही है···अखबार आ गया है, पर अभी सुधीर ने खोला नहीं है···

चाय दे दे रमा तो अखबार पढ़ा जाए···

रमा चाय दे गई···

खड़खड़ा कर अखबार खुला और बहुत सारी खबरों के साथ एक ऐसी खबर सुधीर की नज़रों के सामने फैल गई जिसने अचानक उसके चेतन मन को अवचेतन में धकेल दिया—सुधा गुप्ता के हत्यारे को दस साल की सख्त क़ैद—हत्यारा! ···देखा था सुधीर ने उस हत्यारे को··· मुश्किल से अठारह साल का होगा···सुनहरा रंग···लम्बी मज़बूत काठी ···घुंघराले बाल···नय नक्श थोड़े मोटे, पर आंखें बड़ी-बड़ी···उसकी भी तारीख थी उस दिन कचहरी में···पर वह अपना केस टलवा कर

सारा दिन उस हत्यारे की कहानी सुनता रहा था···उसे याद थी अखबा
की वे सारी खबरें जो उन दिनों छपती रही थीं···सुधा कालिज में पढ़
थी···हत्यारा चार-पांच साल से इसी घर में नौकर था···उस दिन घ
में अकेली थी···नहा कर निकली···फिर पता नहीं क्या हुआ···डब
रोटी काटने के चाकू से नौकर ने सुधा को गोद-गोद कर मार डाला·
उसके सिर के बाल उखड़े हुए अलग पड़े मिले···शरीर पर अनगिन
घाव बने···शरीर खून से लथपथ हो गया···

नौकर दो दिन पहले घर से भाग गया था···मालिक लोग उसे म
कर वापिस घर ले आए···सब उसे बहुत प्यार करते थे···घर का सा
काम वह घर के आदमी की तरह ही निपटाता था···फिर ? फिर यह क
हुआ ?···सबने कहा—बच्चे की तरह पाला, और यह किया हरामजादे
ने···सुधा की शादी तय हो गई थी···घर में जेवर-कपड़ा आ रहा था·
उसी पर नज़र होगी···लड़की ने जान पर खेलकर मुक़ाबला किया·
पर···

पर पुलिस ने बताया कि नौकर घर से एक पैसे का सामान भी न
ले गया···अगले दिन अपनी कोठरी में पड़ा पाया गया···

ये छोटे लोग होते ही ऐसे हैं···सुधा गुप्ता के घरवालों ने भरस
कोशिश की कि नौकर को फांसी ही लगे···पर···जज को शायद द
आ गई और उसने उसे सिर्फ दस साल की सज़ा दी···यानी अठारह स
से अट्ठाईस साल तक···बाहर आएगा तो ठीक हो जाएगा···

सुधा गुप्ता के एक रिश्तेदार कचहरी में खड़े कह रहे थे—साले
सिर्फ फांसी मिलनी चाहिए···जिन्दा रहा तो वापिस आएगा और य
वहां ऊलजलूल बकेगा···ये कमीने लोग 'लूज़ टॉकिंग' बहुत करते हैं।

सुधीर ने धीरे से कहा था उनसे—आप इसे इसके गांव भिज
दीजिए ना। आप ऊलजलूल बातों से बच जाएंगे और इसकी जान
जाएगी।

"और इस कुत्ते की औलाद ने हत्या जो की है ?"

सुधीर को हंसी आ गई थी, उसने कहा था, "देखा आपने, ह
यहां की न्याय-प्रणाली कितनी पुष्ट है। कुत्तों तक का न्याय करती

र आपने एक कहावत सुनी है—आदमी जब कुत्ते की तरह इस्तेमाल कया जाता है तो बहुत खतरनाक जानवर होता है।"

"आप कौन हैं ?"

"कुत्ता। इसलिए इसका रिश्तेदार हुआ।"

वे साहब बहुत तैश में आ गए थे, मुंह से झाग टपकाते बोले थे, वह संडासी देखी है जिससे सड़क पर आवारा घूमते कुत्ते पकड़े जाते ।"

सुधीर ने देखी है वह संडासी। पेट पर या गले पर फंसती है और तुत्ता ऊपर उठ जाता है। फिर रोटी के साथ ज़हर की गोली और उसकी आवारगी खत्म। पर यह सिर्फ कुत्तों के साथ ही नहीं होता···

···क्या नाम था उन सेठजी का···विशालचन्द···एक नौकर मरवा-कर उन्होंने दहलीज़ में गड़वा दिया था···कई साल बाद पता चला··· मुक़दमा चला और गवाहियों की कमी में फुस्स हो गया···सुना गया कि सेठजी की गैरहाजिरी में सेठानी उससे अपने सारे शरीर पर तेल मल-वाती थी···कहते हैं उसका हाथ तेल मालिश का सिद्ध-हस्त था···एक दिन सेठ को पता चल गया···और···

किसी भी आदमी को गुलाम बनाने का एक मात्र तरीक़ा यह है कि उसके अन्दर की 'मॉरल सैन्स' को मार दो। वह आपका उम्र भर एहसान मानेगा और आपका गुलाम रहेगा। आदमी को सबसे अधिक तक़लीफ़ यह कम्बख्त 'मॉरल सैन्स' ही देती है। यह मरी नहीं कि सुख ही सुख। दुख फिर पास फटक नहीं सकता। अन्दर की लड़ाई खत्म हुई नहीं कि खुले मैदान में भागने की सामर्थ्य सौ गुनी हो जाती है। आदमी की तरक़्क़ी का असली राज़···

ठहरो सुधीर। बुद्धिवादी न बनो। तुम्हारी असफलता का कारण यह नहीं है कि तुममें 'मॉरल सैन्स' है पर यह है कि तुम उसकी आवाज़ को, उसके निर्देश को साफ-साफ सुन-समझ नहीं पाते। हमेशा दुविधा में रहते हो। जो आवाज़ देर से सुनाई देती है, भ्रम पैदा करती है। जो अन्तःकरण ठीक वक्त पर नहीं चेत पाता स्वस्थ नहीं होता···और सुनो, यह सोचना कि सफल वही हो सकता है जो पहले अपने अन्दर की आवाज़

को सुनना बन्द कर दे निहायत मूर्खता की बात है, सि
थान में बदलने की कोशिश है ··· यह झूठ है···

फिर सच क्या है ?

वह ढूंढ़ना पड़ेगा पर इसे सच मत मानो । झूठ ब
मानसिक स्तर पर मर जाओगे ।

मैं जिन्दा हूं ही कहां ?

हो सकता है इसका कारण यही हो कि तुम्हें झूठ
आदत हो ।

हां, हो तो सकता है, पर···

···सुधा गुप्ता पहले उस नौकर से 'खेल' कराती ध
तरफ कुछ चिपचिपा पैदा हो गया और इसी फरेब में
सूरत चेहरे का सींखचों के पीछे चले जाना झूठ है; सेट
के बाद भी हंस-हंसकर पार्टियों में शामिल होना झूठ
पत्नी को मारकर निर्द्वन्द्व चाय बेचना झूठ है; सैकड़
कौर छीनकर सेठों का ऐय्याशी की जिन्दगी बिताना
कुत्तों की तरह इस्तेमाल करना झूठ है; पति का पर
का पति को उम्र-भर धोखे में रखना झूठ है; यह झूठ है
यशलिप्सा के लिए हजारों हजार, लाखों-लाख आद
रहा है और आज भी निस्संकोच मरवा देता है; ब
कुछ पैसों के लिए या कोई काम निकालने के लि
भर के लिए कहीं भी छोड़कर वापिस आ सकत
के विरुद्ध; ···और ये तो सब छोटे-छोटे स
आदमी ने ऐसा बम बना लिया है ि
सब मारे जाएंगे, पर सम्पत्ति सुरक्ष
है, हमारी सभ्यता का ···आदमी म
यह काम तो यह सभ्यता बिना ि
इसके लिए बम की क्या जरूरत

और सुधीर यह बात भी
जिससे तुम्हारी कोई व्यक्ति

भी दुश्मनी नहीं थी···

वही तो, मैं तो कह ही रहा हूं, वह सच है···पर इसी तर्क पर और सब भी सच हुआ ना···

अब समझ में आया कि अनैतिक और निर्नैतिक में क्या फर्क है ?

क्या ?

अपना किया अपराध निर्नैतिक होता है और दूसरे का किया अनैतिक···

मैंने हमेशा उसे अनैतिक माना···

तो खुद को सज़ा दो···न्याय-व्यवस्था तुम्हें सज़ा नहीं दे रही इस सुविधा को अपने अस्तित्त्व की शर्त क्यों बनाए बैठे हो ?

हां, यह तो है···ऊपर से देखने से···

फिर झूठ बोल रहे हो। ऊपर नीचे से कुछ नहीं। तुमने शादी की। बच्चे पैदा किए। उनमें रस लेते हो···उत्तरदायित्त्व निभाने के नाटक के नाम पर।। खुद को सज़ा दो···और अब मैं पूछ रहा हूं कि क्या यह सच नहीं है कि उसके बाद तुमने अनेक अपराध किए और उन सबके लिए माफी सिर्फ़ इसलिए चाही क्योंकि वे सब एक बड़े अपराध के हैंग-ओवर में हुए। क्या यह सच नहीं है कि औरों को अपराधी इसलिए कहते हो कि कोई और तुम्हें अपराधी न कहे। बता सकते हो तुमने उस मुसलमान को क्यों मारा ?

मैं 'सामूहिक फ्रैन्ज़ी' का शिकार हो गया था।

फिर भी मानते हो तुम आदमी हो, बौद्धिक हो, लेखक हो और क्या यह सच नहीं है कि तुम आज तक अपने इस अपराध की कहानी को छिपाए फिरते हो···

हां, सच है, मुझमें साहस नहीं हुआ···

और क्या यह सच नहीं है कि तुम प्रतिभा के पास सिर्फ इसलिए जाते हो कि वहां बैठकर, उसके सौन्दर्य और उसके गुणों की प्रशंसा करके तुम एक आत्मिक तोष का अनुभव करते हो···उसके अच्छे प्रभाव को तुम अपने ज़ख्मों पर लेप की तरह इस्तेमाल करते हो···यह जानते हुए भी कि वह तुमसे प्रेम नहीं करती···जानते हो ना···?

जानता हूं···

फिर क्यों जाते हो उसके पास ?

तुम्हारी बात सच है···

यह स्वार्थ नहीं है ?

है ।

फिर या तो उसके पास जाना छोड़ दो, या उसे बताओ कि तुम हत्यारे हो···

प्रतिभा के पास जाना नहीं छोड़ सकता···

तो उसे सब बता दो । और रमा को बता दो कि तुम प्रतिभा के पास जाना नहीं छोड़ सकते । उसके शरीर को उसके हाल पर छोड़ दो । कम से कम तुम्हें रमा को धोखा नहीं देना चाहिए···

यह धोखा है ?

इससे बड़ा धोखा दुनिया में कोई नहीं । सब तरफ से अपने लिए सुख लूटने की इच्छा में से ही इस तरह का धोखा आदमी अपने निकटतम सम्बन्धियों को देता है···इसको युक्तिसंगत साबित करने के लिए बड़ी बड़ी दार्शनिक बातें करता है···जहां तुम नहीं हो, वहां होने का भ्रम पैदा करना धोखा नहीं तो क्या है···और इतना समर्थ आदमी कैसे हो सकता है कि एक ही वक्त में सब जगह रह सके···तुम्हें रमा का साथ छोड़ देना चाहिए···

रमा को छोड़ दूं ?

नहीं, रमा को स्वतन्त्र कर दो···अपना अपराध कम करो···और मुझसे क्षणों को स्वतन्त्र रूप से भोगने की बात मत करना···यह सुविधा का दर्शन है···क्या तुम उससे स्वतन्त्र हो सकते हो जो तुम्हारे साथ हुआ है···सुखद क्षणों के लोभ में क्षण की स्वतन्त्रता और दुखद क्षणों के प्रभाव से खुद को बचाने के लिए काल के नैरन्तर्य में शरण लेने की विडम्बना से खुद को बचाओ···अपराध तुमने किया है और तुम मानते हो कि तुम, सिर्फ तुम उसके लिए जिम्मेदार हो, तो इस स्थिति को, अपने मन को पूरी तरह धोने के लिए···

तुम बहुत भावनारहित हो···यह सब तुम आदमी के बारे में बो

रहे हो या···

तुम आदमी हो ना···मैं तुम्हारे बारे में बोल रहा हूं···

रमा ने अचानक आकर सोच के प्रवाह को तोड़ दिया, "चाय और पियोगे?"

रमा को पहचानने में सुधीर को देर लगी, पहचानते ही कहा, "पी लेंगे।"

"अरे, तुमने सुना?"

"क्या?"

"हरद्वारी बरी हो गया।"

"तो मैं क्या करूं?"

"तुम क्या करोगे? मैं कह रही थी कि कैसे लोग खून करके भी—"

अचानक सुधीर जोर से चीख उठा, "तुम चाहती हो रमा, उसकी जगह मैं फांसी पर चढ़ जाऊं?"

"अरे! पागल हो गए हो तुम? मैंने यह कब कहा?"

"और क्या कहा तुमने? बोलो? और क्या मतलब है, तुम्हारी बात का?"

रमा रुंआसी हो उठी, बहुत धीरे से बोली, "मैंने तो यों ही कहा था ···सुना था···तुम्हें तो मेरा बोलना ही बुरा लगता है···"

"तो क्या सजा है इसकी?"

"सजा? किसकी सजा?"

"इसकी कि मुझे बोलना बुरा लगता है।"

"क्या हो गया तुम्हें आज?"

"पागल हो गया हूं। बोलो। बुलाओ चार आदमी। पकड़कर करा दो पागलखाने में जमा···"

रमा एकदम रो पड़ी। सुधीर के सामने से हट गई। रसोई में बैठकर रोने लगी। चुपके-चुपके। संज्ञा ने सोते-सोते सब सुना था। उठकर बैठ गई। सुधीर की तरफ एक वितृष्णाभरी नज़र से देखा। फिर उठकर रसोई में आ गई और मां के ठीक सामने बैठ गई। धीरे से कहा,

"चुप रहो।"

संदीप और सुधीर भी पास आकर बैठ गए। संज्ञा ने दोनों को देखा; कहा, "जाओ, बाहर खेलो जाकर।"

दोनों उठने लगे तो पूछा, "चाय पी ली?"

"हां", दोनों ने एक स्वर में कहा।

"तो जाओ।"

दोनों चले गए तो रमा से बोली, "मां।"

रमा ने संज्ञा की तरफ देखा। फिर नजरें झुका लीं। रमा की आंखें लाल थीं।

संज्ञा ने कहा, "मां, दुख मत करो। मैं हूं।"

झटके से रमा की झुकी गर्दन और झुक गई। रुंधे गले से बोली, "नहीं, दुख नहीं कर रही। और होने को तो सभी कोई हैं।"

"सिर्फ होने के लिए होने से क्या होता है।···अरे मां, मुझे याद ही नहीं रहा बताना। हम लोग तुम्हारे उस मालिक से मिले थे।"

"किससे?"

"अरे वही जिसके यहां तुमने नौकरी की थी। जिसने तुमसे पूछा था कि घर काम करोगी क्या, चौके-बर्तन का, या आया का···!"

रमा की गरदन और झुक गई। बोली, "तो तू वहां हो आई?"

"मैं नहीं मां, हम गए थे। मैं, सुनील, भास्कर और मिलिन्द। बात की तो घिघियाने लगा। माफी मांगने लगा। बड़ा मजा आया।···पर एक बात बताओ मां, बात सिर्फ इतनी ही थी कि···"

"तेरे लिए चाय मैं बनाऊं या खुद बनाएगी? मेरे हाथ की बनी चाय तो तुझे पसन्द आती नहीं।"

संज्ञा सब समझ गई। इसलिए बात खत्म करके हंसती हुई बोली, "तुम्हें चाय बनानी आती ही नहीं तो मैं क्या करूं। चाय में दूध का स्वाद अलग, पत्ती का अलग और चीनी-पानी का अलग···अब तुम्हीं बताओ, ऐसी चाय किसे अच्छी लग सकती है? बताओ?"

"अच्छा बाबा, बना ले खुद। मुझे तो तेरी समझ में कुछ नहीं आता। बस।"

"नहीं, ऐसी वात तो नहीं है। रोना तो खूब आता है।"

"ठीक है, तू भी कह ले। क्यों कसर रखती है?"

संज्ञा ने अपनी चाय बनाना शुरू कर दी। बनाते-बनाते बूढ़ी-दादियों की तरह बोलती रही, "कहूंगी नहीं। मैंने तो एक दिन नानी से कह दिया था कि नानी, इस हमारी मां को कुछ तो सिखाया होता। तो मालूम है मां, नानी क्या बोली थी?"

"क्या?"

"कहने लगी कि अरी वेटी, हमने कब सोचा था कि लड़की हमारी ऐसे घर में जाएगी कि बस हाथ मले और बर्तन मसले। भगवान की दया से आज भी घर में सब कुछ है। अपने मामा की वात छोड़, इतना तो अभी भी मैं ही निकाल दूं कि छोटा-मोटा काम अपना कर लें। यहीं कर लें, इसी शहर में। पर उसमें, हमसे पैसा लेने में, तेरे वाप की नाक नीची होती है। और उनकी वात क्या कहूं हमारी अपनी जाई को यह बिल्कुल पसन्द नहीं है···अम्मां, नानी के पास आज भी बहुत पैसा है?"

रमा को यह सब कभी सुख नहीं देता। उसने कहा, "होगा, हमें क्या। दूसरों के पैसों पर नज़र नहीं रखनी चाहिए। अपनी रूखी-सूखी दूसरे की घी-चुपड़ी से स्वाद होती है।"

"वह दूसरी कहां से हो गई। तुम्हारी मां हैं।"

"मैंने कभी अपनी मां से कुछ नहीं मांगा। तीज-त्यौहार पर या व्याह-टेहले पर। कभी नहीं। जो दे दिया हाथ पसार कर ले लिया। और मांगा तो मैंने इनसे भी कभी कुछ नहीं। पूछ ले, कभी कहा हो कि चार इंच कपड़ा ला दो, या कभी कहा हो कि—"

संज्ञा दुःख और क्रोध से भर आई, वोली, "इसे क्या गुण मानती हो? बड़ा तीर मारा है कि नहीं मांगा।"

रमा हंस पड़ी, स्नेह से बेटी की तरफ देखती हुई बोली, "तू कमाने लग, तुझसे मांग लिया करूंगी।"

"मुझ पर यह इनायत क्यों?"

"क्योंकि तू मुझसे वाक़ई प्रेम करती है।"

"तुम्हारी मां ने तुमसे प्रेम नहीं किया?"

"किया होगा। याद नहीं है।"

"क्या मतलब ?"

"पुराने घरों में सिर्फ लड़कों को प्रेम करने की प्रथा थी। वही हमारे घर में था। लड़कियां तो घर की केंचुल कहलाती थीं। वही और उतार कर फेंक दी।...संज्ञा, जो आदमी अपने से प्रेम न करे उससे कुछ भी मांगते बहुत संकोच होता है..."

"हां मां, वह तो है।"

दोनों चुप हो गईं। संज्ञा चाय पी रही थी। रमा बैठी पैर की चुकटी घुमा रही थी। सुधीर बाहर के कमरे में अपनी कुर्सी में धंसा बैठा था। चुपचाप। घर में एक सन्नाटा व्याप्त था कि उसे फोड़ते हुए संदीप और और समीर किवाड़ खोलकर घर में घुसे, आगे-पीछे, चिल्लाते हुए, "पुलिस, पापा, पुलिस। मोटर भर कर..."

संज्ञा और रमा बाहर निकल आईं।

"क्या है समीर, क्यों चीख रहे हो ?"

"अम्मा, पुलिस आई है। हमारे यहां।"

"हमारे यहां। हमारे यहां क्यों आएगी ?"

"नहीं अम्मा। हमारे यहां आई है। हमारा पता पूछ रहे थे। एक आदमी बता रहा था।"

दोनों साथ-साथ बोल रहे थे और हांफ रहे थे।

इस बार संज्ञा और रमा ने सुधीर की तरफ देखा, सफेद सुधीर अपनी कुर्सी में जड़वत बैठा था।

रमा ने कहा, "ये कह रहे हैं, हमारे यहां पुलिस आ रही है।"

"आने दो। मैं हूं तो, तुम्हें क्या चिन्ता है ?"

वैसे तो इस कालोनी में पुलिस अकसर आती है। एक बार आई थी कि एक क्वार्टर में रहनेवाला एक रिक्शेवाला स्मगलरों का स्वयंसेवक पाया गया था और उसकी बीवी उसके समूह की सेविका। बीवी खूबसूरत थी। छरहरा बदन और छोटी-सी गर्दन पर रखा ग्रामीण पर खूब आकर्षक

चेहरा। रोज सुबह वह पति के रिक्शे को पानी से धोती और सूखे कपड़े से रगड़-रगड़कर साफ करती। पति चला जाता तो बहुत देर तक क्वार्टर के बाहर खड़ी होकर वह अपने अर्धनग्न शरीर का प्रदर्शन करती। पड़ौसी उसकी आलोचना करते पर अकसर रिक्शेवाले के जाते ही उससे गपशप करने अपने-अपने क्वार्टर के बाहर आ खड़े होते। वह ज़्यादातर ब्लाउज़-पेटीकोट में ही होती, और उसकी चाल उसके बदन के सारे जोड़-मोड 'कैमरा-आई' पर उभार देती। एक दिन किसी पड़ौसी स्त्री ने कह दिया था कि, "तू धोती क्यों नहीं पहनती, बाहर खड़ी होती है जब?"

तो उसने जवाब दिया था, "नहीं पहनती, हवा मेरे बदन में घुसती है, तक़लीफ तुझे क्यों होती है?"

पड़ौसिन ने हंसकर कहा था, "अरी, तेरे बदन में कुछ भी घुसे, तक़-लीफ होगी तो तुझे होगी। मैं तो इसलिए कह रही थी कि बुरा लगता है।"

"क्या बुरा लगता है?"

"ऐसे बाहर निकलना।"

"तो तेरा वह धगड़ा, रिक्शेवाले के मोड़ पर मुड़ते ही, किवाड़ खोल-कर क्या अपनी मां के पैर छूने को निकलता है।"

"क्या कहा? कौन निकलता है?"

"वह, तेरा बाबू।"

"वह तेरी तरफ को मुंह करके थूके भी नहीं।"

"हां, थूकता तो वह तेरी ही तरफ मुंह करके है। मेरी तरफ तो वह भरी नज़र से देखता है। अच्छा लगता है, कभी-कभी तो···"

एक दूसरी पड़ौसिन ने पहली को समझाया, "अरे, किसके मुंह लग रही है, यह तो रंडी है रंडी···तू भी···"

रिक्शेवाली बिखर गई। भयानक वाक्-युद्ध हुआ। बहुत मुश्किल से, बहुत लोगों के बीच-बचाव के प्रयास से दोपहर तक युद्ध शीत-युद्ध की स्थिति तक पहुंचा। देशों की लड़ाई में पहले शीत-युद्ध होता है, फिर युद्ध और औरतों की लड़ाई में पहले युद्ध फिर शीत-युद्ध। शाम को औरतों के पतियों के युद्ध के मनोरंजन से जनता वंचित रह गई क्योंकि पुलिस ने आकर एक दूसरा ही नाटक मंच पर बिखेर दिया। मनोरंजन उसमें भी बहुत

पर थोड़ा भय भी था, क्योंकि पुलिस भी थी। इस पोशाक में पात्र अकसर भय का संचार करते हैं और नाटक के अन्त को गुह्य रखने में आस्था रखते हैं। यहां भी अन्त के प्रति सबकी जिज्ञासा कुंठित ही रह गई। जो मंच पर हुआ वह सिर्फ इतना था कि पुलिस के आने के कुछ ही देर बाद एक कार और दो मोटर साइकिलें आकर रुकीं। कुछ भारी भरकम इज़्ज़तदार से लोगों ने क्वार्टर में बैठकर पुलिस से बातचीत की। फिर सब चले गए। सुबह सबने देखा रिक्शेवाला रिक्शा खुद धो रहा है··· पड़ोसियों को निराशा हुई···पर तीन दिन बाद जब फिर रिक्शे के पास वही पेटीकोट लहराता दीखा तो सबने छोटी-छोटी लम्बी सांसें फेंककर मन रोज़ के काम में लगा दिया···

सबने तय किया, इसे रंडी कहना ग़लत है। नहीं कहना चाहिए···

···और पुलिस उस दिन भी आई थी जिस दिन दो रुपये के नोट और डाकखाने के टिकट छापने वाले लोग पकड़े गए थे। उनमें एक नेताजी भी थे, कालोनी के। रामलीला, देवी का जागरण और जन-सेवा में सबसे आगे रहते। एक बार को रामलीला में पूरे पांच सौ रुपये दे दिए थे। संयोजक ने रुंधे गले से मंच पर से कहा था, "लालाजी, हमारी कालोनी की ही नहीं, हमारे देश की शोभा हैं। ऐसे ही लोगों के भरोसे से यह धरती खड़ी है। इनके चेहरे पर वही प्रभामंडल है जो कृष्ण के मुख पर था, राम के मुख पर था, और···और···" आगे तीसरा नाम याद न आने के कारण संयोजक महोदय मंच पर खड़े-खड़े ही रो पड़े थे···

नाटक का अन्त इस मामले में भी गुह्य ही रह गया था। लालाजी अगले दिन मुस्कराते-घूमते पाये गए थे—और बहुत दिनों बाद पता चला था कि उस केस में मशीन-मैन को पांच साल की सजा हो गई थी क्योंकि मशीन उसके घर पर लगी पाई गई थी···लालाजी ने तो पहले ही कालोनी में संस्कृति की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी···

और एक बार चोरी की तलाश में···एक बार रेल से कूदे डकैतों का पीछा करते हुए···

दिल्ली और उत्तरप्रदेश की सीमा पर बनी इस कालोनी का अपना एक महत्त्व है···

पर आज पुलिस एक बहुत ही अलग तरह के उद्देश्य से आई थी··· संदीप और समीर का ख़याल ग़लत निकला। पुलिस उनके यहां नहीं, उनके ठीक बराबर के क्वार्टर में आई थी। उसे खाली कराने···

भटनागर से मकान खाली कराने···

भटनागर के परिवार की एक कहानी है···

···वह पहले एक अख़बार के दफ़्तर में काम करता था। टाइम-कीपर था। साढ़े तीन सौ रुपये महीना तनख्वाह मिलती थी। पत्नी, एक चौदह-पन्द्रह साल की लड़की और दो छोटे लड़के। सबका रंग निहायत गोरा। लड़की का क़द लाम्बा, बदन इकहरा। बाल ताँबे के रंग के। नय नक़्श इतालवी और आँखें भटकी हुई। दोनों लड़कों के बालों का रंग ठीक-ठीक सुनहरा। दोनों आगे-पीछे भागते तो बहुत खूबसूरत लगते। बच्चों की मां पूरे ब्लाक के मनोरंजन का साधन। छोटी से छोटी बात पर लड़ने-मरने को तैयार। सिर के बाँये आधे के बाल सफेद, दाँये आधे के काले। नय नक्श असाधारण तौर पर तीखे। आँखें बहुत बड़ी-बड़ी पर रूखी। चेहरा भरा-भरा पर खुरदुरा। चलने-फिरने के ढंग में एक अस्वाभाविक उतावलापन। लड़ाई के वक्त का वाक्य-विन्यास अनोखा। जैसे—"चंडाली, बात बनाई, ले के बात बनाई, बाल झुलस दूं, आग लगा दूं, मेरे बच्चों को लावारिस समझे है, लड़की को नाम रखे, हाँ, ले के बात बनाई, घी-जाई नहीं है कम्बख़त के, मैं सब जानूं, सबके लच्छन, हां, ले के बात बनाई, किसी के खाने नहीं जाते हैं, ये हरामजादा ऐसा न होता तो··· ले के बात बनाई···"

बच्चों को पीटने का उसका ढ़ंग भयानक। कपड़ों को भी शायद ही कोई इतनी निर्ममता से कूटता हो। बच्चों के चिंचियाने की आवाज़ आती तो सुधीर खाने की थाली छोड़ कर हट जाता। बच्चे कमरे में पिटते तो पूरे ब्लाक की रूह कांप उठती। पर बाहर पिटते तो बच्चे चारों तरफ खड़े होकर तालियाँ पीट-पीट कर हंसते। छोटे-छोटे दो बन्दरनुमा बच्चे जब जान बचाने के लिए इधर-उधर भागते तो बन्दरिया के नाच का मज़ा देते। सब निस्संकोच मज़ा लेते। बीच-बचाव करने का साहस तो भला था ही किसमें। कौन बला मोल ले सिर। पर एक दिन के हंगामे ने पूरे

पड़ोस की शान्ति को भंग कर दिया।

भटनागरनी को फूल पौधों का शौक। हर क्वार्टर के बाहर पड़ी दस गुना दस की पथरीली ज़मीन को लॉन बनाने की उसने भरपूर कोशिश की। भटनागर को भेज कर कहीं-कहीं से पौधे मंगाए। कुछ बाहर घूमते पौधोंवाले से खरीद लिए, उधार। छोटे बच्चों को वह दिन भर एक ही काम पर लगाए रहती। ईंटें इकट्ठी करके लाओ। क्यारियों की सुरक्षा के लिए मजबूत दीवार खड़ी करनी होगी। घर में खाना बने या न बने, नया पौधा दीखेगा तो घर में आएगा। उधार बढ़ता गया। नौकरी के बावजूद घर की हालत निहायत खस्ता कि पूरे ब्लाक़ को एक दिन सूचना मिली कि भटनागर की नौकरी छूट गई। पैसों की ज़रूरत के दबाव में अपनी टाइम-कीपरी का नाजायज इस्तेमाल किया और नौकरी से छुट्टी। भटनागरनी को भी पता चला। एकदम बिखर गई। भटनागर की आदत थी शाम के वक्त 'नीचे पेट और ऊपर कुछ नहीं' पहनकर वह अपने मिनी बगीचे में खाट पर बैठकर बीड़ी पीता था। उस दिन भी पी रहा था कि हाथ में बांस की लम्बी-सी खपच्ची लेकर भटनागरनी आई और उसी तेवर से जैसे वह बच्चों को पीटती थी भटनागर को पीटना शुरू कर दिया। पहले तो भटनागर चुपचाप बैठा पिटता रहा। चारों तरफ खड़े लोग देखते रहे और हंसते रहे। पीठ लहूलुहान हो गई फिर वह अचानक फुदककर उठा, और तेज़ी से कमरे में घुस गया। दर्शकों की सांस रुक गई। उन्हें लगा कि कहानी में जोर आया। भटनागर को गुस्सा आ गया है। यह बात सच है, पड़ोस के लोगों को भटनागर में गुस्सा देखकर सुखद आश्चर्य होता। किसी पड़ोसिन ने धीरे से कहा भी, "मर्द की जात है, आखिर कब तक गुस्सा नहीं आएगा, आज खाल उधेड़ देगा रखकर''ऐसा तो कहीं देखा न सुना।"

पर सारे दर्शकों ने एक सांस में सिसकारी भरी जब उन्होंने पाया कि भटनागर अन्दर डन्डा लेने नहीं सिर्फ कमीज़ पहनने गया था। और अब वह बिल्कुल ऐसे जैसे शाम की सैर को निकला हो रेल की पटरी की तरफ जा रहा है। बच्चों ने उसके पीछे भागने की कोशिश की है पर मां ने चीखकर उन्हें रोक लिया है और उसी आवाज में अपने पति को बता

दिया है कि 'शरमदार है तो फिर घर में वापिस मत अइयो।"

पास-पड़ौस की शान्ति गरीब-परिवार से भंग नहीं होती गरीबी से पैदा हुई उस परिवार की विकृतियों से होती है। उस दिन वाक़ई पूरे पड़ौस पर सकता छा गया। कहीं भटनागर…

और जो जाग रहे थे उन्होंने देखा कि रात के ग्यारह बजे भटनागर उसी चाल से वापिस घर आ रहा है। मुंह में उसके बीड़ी का पटबीजना है। सांस पंख खोलता है तो पटबीजना चमक उठता है…

भटनागरनी अपने बगीचे में चारपाई पर जागती लेटी है। पति को देखकर उसने मुंह घुमा लिया है। पर पास लेटी लड़की उठकर बैठ गई है। पिता के साथ उठकर कमरे में आई है। मदद करके उसकी कमीज़ उतरवाई है। खून के धब्बों में रंगी कमीज़। पीठ देखी है। खिड़की की मुंडेर पर से एक डिबिया उठाई है और कमर पर देख-देख कर लगाने लगी है। धीरे से पूछा है, "बहुत लगी है ?"

"नहीं। तेरी मां ने खाना खा लिया ?"

"हां…नौकरी कैसे छूट गई ?"

"और मिल जाएगी।"

लड़की चुप हो रही है।

"यहां भी लगा ज़रा-सा। यह डिबिया कहां से आई ? घर में थी ?"

"मैं लाई थी।"

"कहां से ?"

"कहीं से भी। तुम्हें क्या। खाना दूं ?"

"तूने खा लिया ?"

"हां।"

'नहीं खाया होगा तूने, मैं जानता हूं।"

"तुम्हें खाना है या जाऊं बाहर ?"

"मैं ले लूंगा, तू जा।"

रात बीत गई। सुबह आई। भटनागर पत्नी के जागने से पहले ही घर से भाग गया। लड़की किसी पड़ौसी से कुछ आटा-वाटा मांग कर लाई। नौ बजे भटनागरनी भी निकल गई। नौकरी की तलाश में। बच्चों

को कह गई, घर का खयाल रखना और कहीं मत जाना।

पन्द्रह दिन की दौड़-धूप के बाद भटनागरनी को सत्तर रुपए महीने और भटनागर को सौ रुपए महीने की नौकरी मिल गई। सुबह आठ बजे दोनों निकल जाते और शाम को सात बजे वापिस घुसते। दोनों बच्चे दिन भर घर के बाहर उदास बैठे रहते। कभी-कभी इधर-उधर खेलते तो कोई न कोई पड़ोसी किसी न किसी बात पर धमका देता और वे फिर उदास होकर खाट पर टांगें नीचे लटकाकर स्थापित हो जाते। एक दिन भूखे थे, किसी पड़ोसिन ने खाना दे दिया। शाम को भटनागरनी के आने पर स्नेह से कहा, "अरी, कम से कम बच्चों को तो दो रोटी दे के जाया कर। काम तो सभी करते हैं, अपनी-अपनी तरह से, बच्चों को बिल-बिलाता कोई नहीं छोड़ता इस तरह। हम से तो देखा नहीं जाता, पड़ोस के बच्चे, आज मैंने खिलाया दोनों को सामने बिठलाकर। ऐसे खाया दोनों ने, जैसे···

भटनागरनी के आग लग गई। अचानक उसके मुंह से निकला, "क्यों, अनीता तो थी यहां।"

पड़ोसिन ने आश्चर्य के भाव को चेहरे पर क्रीम की तरह पोत कर कहा, "अनीता? वह तो दिन भर यहां नहीं दिखती। हमने तो समझा, उस का भी कहीं काम लग गया है।"

कहकर पड़ोसिन धोती के पल्ले से हंसी छिपाती अन्दर घर में घुस गई और किवाड़ अन्दर से बन्द कर लिए।

और पहली दफा देखनेवालों ने देखा कि भटनागरनी निढ़ाल होकर चारपाई पर बैठ गई है। पर पांच मिनट ही बैठी रही वह। उठकर खड़ी हुई। दोनों छोटे बच्चे कांपते हुए एक कोने में खड़े थे। पहले एक-एक चपत उन दोनों को पड़ा। फिर वह कमरे में गई। किवाड़ अन्दर से बन्द किए। अनीता खाना बना रही थी। बाहर की बातचीत वह सुन रही थी। अपना भविष्य जानती थी। मां को आते देखा तो अंगीठी के पास से हट गई। आग का डर। मां ने उसे देखा तो शेरनी हो उठी। चुटिया पकड़-कर लड़की को जमीन पर पटका और हाथों से, लातों से धुंआधार वार करती हुई बोली, "मैं भी तो कहूं, रोज कौन दे-दे है तुझे उधार, अब

पता चला कि चाम की कुल्हड़ी में से निकाल-निकाल कर खिला रही है··· चंडाली, नाम डुबा दिया खान्दान का···"

कार्यक्रम लम्बा चलता पर भटनागर आ गया। भटनागर का तो खैर कुछ नहीं था पर उसके साथ कोई और भी था। बात चुक गई। पर अगले दिन से भटनागरनी के दिमाग़ की तुर्शी और बढ़ गई। तीनों बच्चों को वह ताले में बन्द करके जाती। कोई उसके फूल-पौधों या ईंटों को छू भी देता तो उससे लड़ती। रात के आठ-नौ बजे अकसर किसी न किसी से लड़ती पाई जाती। ब्लॉक के लोग खुश, रोज़ का तमाशा, रोज की रौनक़। बिना टिकट का। लड़-झगड़ कर वह सर्दी हो या गर्मी, नहाती। लड़ते-लड़ते कोई उसके बगीचे में घुस आता तो वहां पानी छिड़कती। घर के लोगों के लिए तो सख्त क़ानून था ही। 'लैट्रिन' में कोई पेशाब करने भी घुसेगा तो उसे नहाना पड़ेगा। रोज़ काम पर से आने के बाद पहले नहाती फिर एक घंटे पानी छिड़कती घूमती। लोग हंसते तो उन्हें गालियां देती।

पर इतनी सफाई-पसन्द औरत ने अपनी ज़िन्दगी की लड़ाई में एक नया आयाम जोड़ दिया। रात-भर लड़की और दोनों लड़कों को साथ लेकर वह चारों तरफ से गोबर बीनती, और सुबह चार बजे उपले पाथती। तभी सबको नहलाती और सुला देती। खुद न सोती। सोते तो उसे कभी किसी ने देखा ही नहीं था। पतले दुबले बदन की इस औरत में ग़ज़ब का ज़ोर था। रात-दिन की यह मेहनत भी लड़ने के उसके उत्साह को कभी कम नहीं कर पाई। पर घर धीरे-धीरे कगार खोता रहा। सुबह-शाम पैसे मांगने वालों की भीड़ लगी रहती। घर में हर समय अकाल की स्थिति रहती। बगीचा धीरे-धीरे प्लाट हो गया। अनीता धीरे-धीरे बहुत से लोगों की प्यारी हो गई। क्वार्टर का मुक़दमा चला। एक महीने के अन्दर-अन्दर 'मकान खाली करो' का हुक्म जारी हो गया, कचहरी से, और आज लेबर ऑफिस के कारिंदे आ गए हैं कचहरी के, हुक्म की तामील कराने। पुलिस साथ है कि कहीं कोई गड़बड़ न हो।

इन क्वार्टरों की भी एक कहानी है। यह जमीन डी॰ डी॰ ए॰ की है, क्वार्टर सी॰ पी॰ डब्ल्यू॰ डी॰ ने बनाए हैं, मिल्कियत लेब[illegible]निस्ट्री

की है और मिनिस्ट्री की तरफ से लेबर कमिश्नर फैक्ट्री मालिकों की जमानत पर मजदूरों को किराये पर देता है। किराया फैक्ट्री मालिक मजदूरों की तनख्वाह में से काटकर लेबर कमिश्नर को देता है। अगर किसी मजदूर की नौकरी छूट जाए तो छै महीने के अन्दर-अन्दर क्वार्टर खाली करना होता है, न करने पर उसको किराये का लगभग तीन गुना भुगतान करना पड़ता है। इन छै महीनों का किराया मजदूर को चुकता देते वक्त मालिक काट लेता है और लेबर कमिश्नर को भेज देता है।

फैक्ट्री मालिक को भी इस सारे मकड़ी जाल में थोड़ा-सा फायदा होता है। एक तो मजदूर जरा दबकर रहते हैं क्योंकि उन्हें मालूम होता है कि नौकरी गई तो क्वार्टर भी जाएगा और यह तय है कि किसी भी कम-आमदनी वाले आदमी के लिए नौकरी छूटने से भी अधिक खतरनाक स्थिति मकान छूटने की होती है। खास तौर से बड़े शहर में। बच्चों के स्कूल, चारों तरफ फैला लेन-देन, मकानों के निरन्तर बढ़ते किराये··· फिर व्यवस्थित घर और भटनागर के घर में तो···

पुलिस पीछे और लेबर आफिस के लोग आगे-आगे। पीछे-पीछे बच्चों की भीड़। एक मनोरंजक तमाशे की उम्मीद। पड़ोसी दफ्तर जाते-जाते रुक गए। सब को आशा थी कि पुलिस लाख ज़ोर मारे भटनागरनी से क्वार्टर खाली नहीं करा सकती। सब की जुबान पर—देखें, क्या होता है?

हुआ कुछ खास नहीं। भटनागर और भटनागरनी दोनों अपने-अपने काम पर चले गए थे। अनीता भाग कर बुलाकर लाई। दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा। फिर पुलिस की तरफ और फिर चुपचाप सामान निकाल कर बाहर रखना शुरू कर दिया। पड़ोसी बहुत निराश हुए। कोई रौनक़ नहीं हुई। यह क्या बात हुई? दफ्तर से रुके लोग चले गए। बचा ही क्या है, देखने के लिए। एक रेढ़ा आएगा और सामान उठा ले जाएगा। दोनों मियां-बीबी और तीनों बच्चे पीछे-पीछे होंगे, पैदल।

चलो, एक बला टली।

पर जिनकी ज़िन्दगियों में तमाशा होता है, वह लोगों को तमाशे का रस देकर ही रहते हैं। सामान बाहर निकल गया। सामान बाहर निकला

रखा रहा। क्वार्टर पर सरकारी ताला लग गया। दोनों पति-पत्नी कुछ देर खड़े सोचते रहे। दोनों छोटे बच्चों को ढूह बने सामान पर बिठा दिया गया। अनीता सामान के आगे बगीचे की तरफ पैर करके बैठ गई। पति-पत्नी नये मकान की तलाश में निकल गए।

और वह सामान चार दिन तक उसी स्थिति में पड़ा रहा। बच्चे वहीं बैठे रहे। अनीता यहां-वहां से लाकर कुछ उन्हें खिलाती रही, दोनों पति-पत्नी मकान ढूंढ़ते रहे और चारों तरफ के लोग ठहाके लगा-लगाकर हंसते रहे…

८

घटना बीत गई। पर उसका प्रभाव सुधीर के मन को पूरी तरह विकृत कर गया। चार दिन तक सुधीर जब भी अपने किवाड़ खोलता और भटनागर के बच्चों को सामान के पास बैठे देखता तो मिनट भर बाद ही वे दोनों बच्चे संदीप और समीर बन जाते और पास बैठी अनीता की जगह संज्ञा उन्हें खाना खिलाती होती। वह झटके से किवाड़ बन्द करता और घूमकर कुर्सी में धंस जाता, हांफता हुआ। रमा हंस पड़ती, कहती, "कहीं बाहर क्यों नहीं घूम आते ?"

पर घर से बाहर सुधीर सामान उठने के बाद ही जा सका। पता नहीं क्यों उसे लगता रहा कि कुछ होगा और उसके घर का सामान भी साथ ही साथ उठ कर चला जाएगा। वह जानता था कि जब तक केस कोर्ट में है, ऐसा नहीं हो सकता, पर एक सैकिण्ड के लिए भी यह भय वह अपने अन्दर से नहीं निकाल सका। पांचवें दिन घर से बाहर निकला तो बाहर की दुनिया को पहचानना बहुत मुश्किल पड़ा। बस्ती, पटरियां पान की

दुकान, पगली, गली, फिर वड़ी सड़क। उसे लगा वह किसी एकदम अन-जान दुनिया से निकल कर वाहर आया है। सड़क पर आते ही वह सवाल उसके सामने जमकर खड़ा हो गया। कहां जाए ? और क्यों जाए ? एक ही सिक्के की दोनों तरफ ये दो सवाल लिखे हैं और वह सिक्का सड़क पर आते ही उसके अन्दर उछलने लगता है। चित-पट के खेल की तरह। कभी एक सवाल ऊपर होता है तो कभी दूसरा। पहले सिक्के की इस चित-पट का सुधीर मजा लिया करता था पर आज सिक्के के धारदार किनारे उसके भीतर के मांस को कहीं कुतर रहे हैं और उसे सांस लेना दूभर हो रहा है। अचानक उसके सिर में एक सवाल वड़ी तेज़ी से घूमा है, उसके ठीक सामने, सिर से निकल कर धरती पर गिरा है और दीवाली के उत्सव में छूटने वाली चकरी की तरह घूमते-घूमते ही वड़ा होता गयाहै। सुधीर ने ध्यान से सवाल का मजमून पढ़ा है—यह तुम खुद से इतने अपरिचित क्यों रहते हो ? सवाल उसने कई वार पढ़ा है। मतलव सम-झने की कोशिश की है। कौन किससे अपरिचित रहता है ? सुधीर सुधीर से ? या नम्वर डाले जा सकते हैं ? सुधीर नम्वर एक सुधीर नम्वर दो से और नम्वर दो नम्वर तीन से···और···

क्या कर डाला सुधीर तुमने अपने साथ ? तुमने कुछ ऐसा किया जो शायद तुम्हारे स्वभाव के विपरीत था। कुछ दिन तुम्हारी समझ में ही नहीं आया कि कौन तुम्हारे अन्दर वैठा हर समय सियार की तरह रोया करता है। उस आवाज़ को अनसुना करने के लिए तुमने कुछ ऐसे कारनामे करने शुरू किए जो तुम्हारे स्वभाव के और भी विरुद्ध थे। तुम्हारा 'लघु-शरीर' हर समय तुम्हारे सिर पर सवार रहने लगा। शरीर को तुम नमक की तरह घुलाने लगे। शरीर को घुलाने के लिए तुमने हर अच्छे-वुरे तरीके से यहां-वहां से पैसा खींचा। अन्दर रोते सियार की आवाज़ और तेज़ हो गई। पर और इतने सियार चारों तरफ इकट्ठे होकर रोने लगे कि उसकी आवाज़ अलग से पहचानना मुश्किल हो गया। फिर एक दिन प्रतिभा दीखी, मिली, वोली और उसने एक ही इशारे में वहुत से रोते सियारों को चुप करा दिया और अव उस पहले सियार की आवाज़ कितनी साफ, कितनी ऊंची और कितनी कर्ण-कठोर हो उठी है···शरीर

कैसा सुन्न रहने लगा है···कितने दिन हो गए रमा के साथ सोए···उसका शरीर एकदम अपरिचित-सा हो उठा है···लगने लगा है, कभी कोई स्त्री-शरीर देखा ही नहीं···कभी-कभी देखती है रमा अनबूझ दृष्टि से···पर वह क्या करे ?···प्यास उसे न लगती हो ऐसी बात नहीं, पर उठकर पानी पीने का सारा उत्साह ही खत्म हो गया है। कभी-कभी शरीर में ऐसी जलन उठती है जैसे सारा शरीर किसी तेज़ लपट से झुलस गया हो। तब रमा के होते हुए वह अपना काम तमाम खुद कर लेता है, और सो जाता है···उस रात उसे बहुत बीभत्स, डरावने सपने दीखते हैं···नौकरी उसने छोड़ दी है···पैसों की आमद का कोई जरिया नहीं···लेखक बनने की लालसा को तो बहुत पहले मर जाना चाहिए था, पर लिखने बैठता है तो सिर में बस धुंध ही धुंध होती है···पहले सियार की आवाज को दबाने के लिए पूरा परिवार बना लिया और अब परिवार का हर सदस्य सियार की तरह बोलता दिखाई देता है। और सुधीर नम्बर एक का गला घोंटने की प्रक्रिया में पैदा हुए दूसरे सुधीरों की संख्या बढ़ती जा रही है···असली सुधीर और प्रतिभा का सुधीर एक तरफ और अन्य अनेक सुधीर···लड़ाई जारी है···देखो, प्रतिभा जीतती है कि दुनिया···

अपने ज़िन्दा रहते प्रतिभा को हारने दोगे ?

नहीं, प्रतिभा जीतेगी···

पर, यह शरीर, इसको जिन्दा रखने के साधन···और वह शरीर को झुलसा देने वाली लपटें···

कुछ भी हो, जैसे भी हो, प्रतिभा को जीतना ही चाहिए···नहीं तो आदमी आदमी से सहानुभूति रखना छोड़ देगा···

हां, प्रतिभा को जीतना चाहिए···

सुधीर सोचता खड़ा था कि बस आ गई। सब भाग-दौड़कर चढ़ गए। बस खिसकने लगी तो अनमने मन से सुधीर भी चढ़ गया···

अजीब मौसम है आज। पूरे आकाश में धुंध जैसे बादल घिरे हैं। कैसे होता है कि मौसम का धुंध दिमाग़ की पोरों में फैल जाता है और पूरे शरीर को, पूरी चेतना को कुतरने लगता है। सुधीर इस समय बहुत कोशिश कर रहा है कि यह सोचे कि उसकी इस स्थिति का ?

है। वह अपने सिर को कुरेद रहा है। धागे का एक सिरा मिल जाए जिसके सहारे वह कारण तक पहुंच सके। पर धागे ही धागे हैं, सिरा कोई नहीं।···प्रतिभा को देखते ही धागों पर लिपटी मैल तो साफ हो जाती है पर सिरा उसे तब भी नहीं मिलता। बचपन की बातें उसे याद हैं। पागल-सा लड़का था वह। गरीब मां-बाप। बाप एकदम सपनों में जीनेवाला। माँ बहुत भावुक, बहुत कोमल हृदय की, पर कुरूप। ग्रामीण कुरूपता। उब-काई पैदा करनेवाली। एक बड़ी बहिन। वह बहुत छोटा था कि उसकी शादी हो गई थी। उसके बाद से हमेशा ग़मों में लिपटी रही। पति की क्रूरता ने उसका जोड़-जोड़ ढीला कर दिया था। आत्महत्या शब्द से पहला परिचय इस बहिन के माध्यम से ही हुआ था। एक दिन वहां पहुंची जहां पिता काम करते थे। वह कहीं गए थे। सन्देशा छोड़ गई कि वह जा रही है, हमेशा के लिए।···पिता आए। एक पल सोचा और स्टेशन की तरफ भागे···लड़की मिल गई। रेल का इन्तज़ार करती हुई। घर आई। सुधीर ने समझा तो कुछ नहीं, पर उससे लिपटकर बहुत रोया। पिता को किसी ने दूसरी दफ़ा रोते देखा। पहली दफ़ा वह तब रोये थे जब लड़की की विदा हो रही थी। पिता, गुमसुम प्राणी। सुधीर को याद नहीं, कभी उसकी पिता से कोई बात हुई हो। पिता ने १६४२ तक देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में आत्महोम के अन्दाज़ में हिस्सा लिया। अगस्त क्रान्ति में अंग्रेज़ी सरकार ने सारा कारोबार लील लिया। पिता ने शहर बदल लिया। पहले बड़ी लड़ाई में डूबे रहते थे, बोलने की फुरसत ही नहीं थी अब छोटी लड़ाई इतनी भारी पड़ रही थी कि बोलने को मन ही न करता।···कभी-कभी सुधीर का मन करता कि उनसे बात करे···पर पिता होते ही कहां थे, सिर्फ उनका आतंक घर में छाया रहता था···

एक भाई भी था सुधीर का। था नहीं है। दूसरे शहर में रहता है।

हां, था नहीं, है···

बस भागी जा रही है।

बाहर की धुंध और गहरा गई है।

सुधीर खिड़की के पास वाली सीट पर बैठा है। बाहर देख रहा है। क्या भागमभाग है। पहले साइकिल आगे, फिर कार आगे, फिर ट्रक आगे

और आदमी मुसल्सल पीछे छूटता हुआ।'''गाड़ियों की बात छोड़ो, एक आदमी दूसरे आदमी से पीछे छूटता हुआ। सुधीर ने सोचा और हंस पड़ा। बचपन में हमेशा वह सबसे पीछे खड़े रहना पसन्द करता। कभी घर में सबके फोटो खिंचते तो वह भागकर कहीं छिप जाता। लाइन में चलना उसके लिए हमेशा बड़ा कष्टकर काम होता। उसके क़दम लड़-खड़ा जाते हैं। कोई न देखे इसलिए हर पी० टी० में वह हमेशा लाइन में सबसे पीछे रहने की कोशिश करता। वैसे संकोची वह नहीं था। स्कूल के दिनों में हर अध्यापक के यहां उसका आवागमन था। दोस्तों का उसका इतना बड़ा दायरा था कि घरवालों को देखकर डर लगता। स्कूल की ज़िन्दगी के बाद भी उसके दोस्तों का दायरा बढ़ा ही, घटा नहीं। हर काम वह आगे बढ़कर करता पर उसी काम के लिए यदि कोई उसकी तारीफ़ करने लगता तो वह इतना संकुचित हो उठता कि जैसे उठकर भाग ही जाएगा।

भागने की वैसे उसे आदत रही है। बचपन से लेकर आज तक कितनी ही दफ़ा वह घर से भागा और वापिस लाया गया या खुद आया। पर जब से शादी हुई है, एक ही दफ़ा, पांच-छै दिन के लिए गायब हुआ था और फिर खुद ही आ गया था। रमा ने उन छै दिनों में, उसने ही बहुत दिनों बाद बताया था, कई बार आत्महत्या करने की सोची। पर खुद ही वह हंसकर बताती कि जैसे ही वह संज्ञा की तरफ देखती यह एक रहस्य-मय-सी हंसी हंस देती। तीन-चार साल की थी संज्ञा उन दिनों। रमा का साफ मत था, संज्ञा ने उसे मरने से बचा लिया। संदीप-समीर तब नहीं थे। सुधीर ने ही बाद में पूछा था, "आत्महत्या क्यों करना चाहती थी?"

रमा ने हंसकर कहा था, "तुम्हारी वजह से नहीं। तुम तो जैसे घर में कभी रहे ही नहीं। पर मैं सोचती, तुम नहीं ही आए तो संज्ञा का क्या होगा? मैं उसे पाल-पोसकर बड़ी कर सकूंगी? कोई भी हुनर मेरे पास था नहीं। मज़दूरी करने या खुद को बेचने का संस्कार नहीं था और सबसे अधिक यह कि पता नहीं तुम कहां होगे। तुम सुनकर थोड़ा-सा फूल सकते हो कि अपने शरीर का जो उच्छिष्ट मुझे देते रहे हो उस पर मेरा मोह

है, और जब तक जिन्दा हूं, रहेगा…"

"तुम मुझसे बहुत प्रेम करती हो रमा ?"

रमा हंस पड़ी थी, कहा था, "बिल्कुल नहीं करती हुजूर !"

"तो ?"

"तो क्या। नहीं करती।" फिर कुछ देर रुककर कहा था, "तुम्हें एक बात बताऊं। हम जो रात को करते हैं, लुक-छिपकर, उसका विरह प्रेम के विरह से ज्यादा धारवाला होता है। कभी-कभी उसको हम प्रेम का विरह मान लेते हैं। पर…"

वह बहुत देर तक हंसती रही थी। फिर चुप होकर बहुत गम्भीर होकर कहा था, "यदि मैं तुमसे प्रेम करती होती, तो तुम्हें ठीक से जानने के बाद एक मिनट भी तुम्हारे पास न रहती।"

"क्या मतलब ?"

"नहीं समझे ?"

"नहीं।"

"नहीं ही समझे हो खुद, तो मेरे समझाने से क्या समझोगे ?"

"फिर भी ?"

"देखो, लेखक महोदय, बात यों है शायद कि प्रेम करने या पाने के बाद आदमी शेर हो जाता है, अपने जंगल का राजा, और तुमने सुना ही होगा कि शेर भूखा मर जाता है, घास नहीं छूता…तुम नहीं मानते कि प्रेम के अनुभव के बाद बाक़ी की तमाम दुनिया घास-फूस हो जाती है…"

"तुम्हारे खयाल से प्रेम इतना संकीर्ण होता है…"

"हां, संकीर्ण तो होता ही है, प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समाएं…"

"तो…"

रमा के चेहरे पर उद्वेग उभर रहा था, उसने जल्दी से बात काट कर कहा था, "क्यों, तुम नहीं जानते…मुझे छूते हुए तुम्हारे हाथ ठंडे क्यों हो जाते हैं ? तुम, काम पूरा करने के लिए जबर्दस्ती खुद में गर्मी नहीं भरते…?"

"पर…"

"और यही चीज़ मुझे तुमसे बांधे हुए है"'तुम कहीं ईमानदार हो, तुम से ईमानदारी की उम्मीद की जा सकती है।"

बहुत पुरानी बात है। संज्ञा तब मुश्किल से पाँच की रही होगी। उन दिनों रमा के तेवर कुछ और ही होते। बात को सीधे और चुभते ढ़ंग से कहना उसे आता था। अब तो वह बुझ चुकी है। संज्ञा जब साफ सुथरी बातें करती है तो बस मुग्ध भाव से उसकी तरफ देखती रहती है। एक दिन बेहद आवेश में उसने कहा था'''लड़की एकदम मुझपर गई है। उन दिनों की रमा की मुस्कराहट कितनी मनोहारी होती थी। अब तो'''

उन्हीं दिनों एक दिन सुधीर ने कहा था, "तुम आज भी किसी से सम्बन्ध बनाओ तो मुझे कोई एतराज़ नहीं है।"

रमा हँस दी थी, कहा था, "अर्जी सीधी लिखो ना, लेखक महोदय, हेरा-फेरी क्यों करते हो?"

"हेरा-फेरी क्या है इसमें?"

"वह, क्या कहते हैं, दीवाली को—'आपको दीवाली की बधाई' और क़दम से क़दम मिलाकर वाक्य आता है—'आपको भी'। यही बात है ना।"

सुधीर झुंझला उठा था। बोला था, "तुम तो हर बात का ग़लत मानी लेती हो।"

रमा जोर से हँस पड़ी थी, हँसते-हँसते कहा था, "चोरी पकड़ी गई, लेखक महोदय की। मुझे इजाज़त दे रहे हैं। भई, व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास करते हो तो उंगली खड़ी करके रास्ता क्यों दिखा रहे हो। सुख की होड़ में हो तो लूटो। मेरी मर्जी होगी'''"

"सुख की नहीं प्रेम की बात कर रहा हूं।"

"यह प्रेम क्या चीज़ होती है? मुझे मालूम है, औरतें इस शब्द से चिढ़ती हैं।"

"तुम्हारा दिमाग़ खराब है।"

"अरे नहीं जी, दिमाग़ खराब होने की को
पौधा बिना बीज के पैदा हो, उसमें हम अ

है, और जब तक जिन्दा हूं, रहेगा…"

"तुम मुझसे बहुत प्रेम करती हो रमा ?"

रमा हंस पड़ी थी, कहा था, "बिल्कुल नहीं करती हुजूर !"

"तो ?"

"तो क्या। नहीं करती।" फिर कुछ देर रुककर कहा था, "तुम्हें एक बात बताऊं। हम जो रात को करते हैं, लुक-छिपकर, उसका विरह प्रेम के विरह से ज़्यादा धारवाला होता है। कभी-कभी उसको हम प्रेम का विरह मान लेते हैं। पर…"

वह बहुत देर तक हंसती रही थी। फिर चुप होकर बहुत गम्भीर होकर कहा था, "यदि मैं तुमसे प्रेम करती होती, तो तुम्हें ठीक से जानने के बाद एक मिनट भी तुम्हारे पास न रहती।"

"क्या मतलब ?"

"नहीं समझे ?"

"नहीं।"

"नहीं ही समझे हो खुद, तो मेरे समझाने से क्या समझोगे ?"

"फिर भी ?"

"देखो, लेखक महोदय, बात यों है शायद कि प्रेम करने या पाने के बाद आदमी शेर हो जाता है, अपने जंगल का राजा, और तुमने सुना ही होगा कि शेर भूखा मर जाता है, घास नहीं छूता…तुम नहीं मानते कि प्रेम के अनुभव के बाद बाक़ी की तमाम दुनिया घास-फूस हो जाती है…"

"तुम्हारे खयाल से प्रेम इतना संकीर्ण होता है…"

"हाँ, संकीर्ण तो होता ही है, प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाएं…"

"तो…"

रमा के चेहरे पर उद्वेग उभर रहा था, उसने जल्दी से बात काट कर कहा था, "क्यों, तुम नहीं जानते…मुझे छूते हुए तुम्हारे हाथ ठंडे क्यों हो जाते हैं ? तुम, काम पूरा करने के लिए जबर्दस्ती खुद में गर्मी नहीं भरते…?"

"पर…"

"और यही चीज़ मुझे तुमसे बाँधे हुए है···तुम कहीं ईमानदार हो, तुम से ईमानदारी की उम्मीद की जा सकती है।"

बहुत पुरानी बात है। संज्ञा तब मुश्किल से पाँच की रही होगी। उन दिनों रमा के तेवर कुछ और ही होते। बात को सीधे और चुभते ढ़ंग से कहना उसे आता था। अब तो वह बुझ चुकी है। संज्ञा जब साफ सुथरी बातें करती है तो बस मुग्ध भाव से उसकी तरफ देखती रहती है। एक दिन बेहद आवेश में उसने कहा था···लड़की एकदम मुझपर गई है। उन दिनों की रमा की मुस्कराहट कितनी मनोहारी होती थी। अब तो···

उन्हीं दिनों एक दिन सुधीर ने कहा था, "तुम आज भी किसी से सम्बन्ध बनाओ तो मुझे कोई एतराज़ नहीं है।"

रमा हँस दी थी, कहा था, "अर्जी सीधी लिखो ना, लेखक महोदय, हेरा-फेरी क्यों करते हो?"

"हेरा-फेरी क्या है इसमें?"

"वह, क्या कहते हैं, दीवाली को—'आपको दीवाली की बधाई' और क़दम से क़दम मिलाकर वाक्य आता है—'आपको भी'। यही बात है ना।"

सुधीर झुंझला उठा था। बोला था, "तुम तो हर बात का ग़लत मानी लेती हो।"

रमा जोर से हँस पड़ी थी, हँसते-हँसते कहा था, "चोरी पकड़ी गई, लेखक महोदय की। मुझे इजाज़त दे रहे हैं। भई, व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास करते हो तो उंगली खड़ी करके रास्ता क्यों दिखा रहे हो। सुख की होड़ में हो तो लूटो। मेरी मर्जी होगी···"

"सुख की नहीं प्रेम की बात कर रहा हूं।"

"यह प्रेम क्या चीज़ होती है? मुझे मालूम है, औरतें इस शब्द से चिढ़ती हैं।"

"तुम्हारा दिमाग़ खराब है।"

"अरे नहीं जी, दिमाग़ खराब होने की कोई बात ही नहीं है। जो पौधा बिना बीज के पैदा हो, उसमें हम औरतों की कोई रुचि न

होती।"

"तुम क्या सारी औरतों की नुमाइन्दा हो।"

"मैं उन्हें जानती हूं···ठीक कह रही हूं। इसीलिए औरतें ज्यादा शक्की होती हैं, अपनी बिरादरी को जानती हैं।"

क्यों आ रही हैं ये सब बातें याद उसे? रमा का पुराना स्वरूप! संज्ञा का वह बाल-रूप! उसके वह छोटे-छोटे खेल! अदना, पर कितने रसभरे! वह खाना खाने बैठता, तो उसके सामने, पर ज़रा पीछे हटकर बैठ जाती। हर आधा मिनट के बाद थाली अपनी तरफ घसीट लेती और उसमें दोनों मुट्ठियां टिकाकर झुक जाती। सुधीर के लिए थाली छुड़ाना मुश्किल हो जाता। थाली छुड़ा ली जाती तो रोती। तब कोई डेढ़ साल की थी···फिर छै साल की हुई··· आँखें खोल-खोल कर दुनिया देखने लगी···बातें सुनने लगी···माचिस जलाती और तिल्ली को यहाँ-वहाँ फेंकती···मजा लेती···और एक दिन एक भयानक खेल खेल डाला ···तिल्ली से एक काग़ज़ जलाया और जला हुआ काग़ज़ सर्दियों के कपड़ों में फेंक दिया···कपड़े जलने लगे तो तालियाँ पीट-पीट कर हँसने लगी··· रमा कहीं बाहर थी···घर में धुआँ···

सुधीर को याद है वे सारी सर्दियां उन तीनों ने एक ही पलंग पर एक ही रजाई में बिताई थीं···

इस समय वह कहाँ जा रहा है?

राममनोहर की तरफ चलते हैं···

वहाँ जाकर क्या होगा?

कुछ काम की तलाश करें। ऐसे कितने दिन चलेगा।

नहीं। मुझे काम नहीं करना। क्या होता है काम करके? आर्थिक समस्या तो वहीं की वहीं खड़ी रहती है। राममनोहर का कितना काम किया? पर तब भी हर समय भिखारी ही बने रहते थे। कभी ऐसा नहीं हुआ कि···

तो कहाँ जायें?

यह बस तो थोड़ी देर में उतार देगी···

प्रतिभा के यहाँ चलें?

पर…

फोन पर पता चला प्रतिभा घर में नहीं है…अच्छा ही हुआ…इस समय उसके लिए कोई भाव नहीं है मन में…मिलती है तो अजीब-सा लगता है…दोपहर हो गई है…चलें, कुछ देर पार्क में चल कर लेटें…शादी से पहले के कितने ही दिन पार्कों में ही बीता करते थे…कितनी ही रातें भी…अलग-अलग शहरों में…वह कौन से शहर की बात है…सर्दियों की रात…एक पार्क में सोया हुआ था वह…सर्दी में सिकुड़ा हुआ…एक निहायत पतला-सा कम्बल था उसके पास…उसी में उसने अपने शरीर की गठरी बाँध रखी थी…सर्दी फिर भी बहुत लग रही थी…एक सिपाही आया था…उसे जगाया था उसने, हाथ के डंडे से कुरेदकर… जाग तो वह रहा ही था…उठकर बैठ गया…सिपाही ने पूछा—यहाँ कोई जगह है सोने की, तुझे पता नहीं कि यहाँ सोना मना है।…वह चुप रहा था…सिपाही ने फिर कहा था—चल भाग यहाँ से…वह उठकर खड़ा हो गया था…चुपचाप…पर पता नहीं सिपाही को क्या सूझी थी कि उसने सुधीर के बदन पर लिपटा कम्बल उतार लिया था और यह कहता हुआ वहाँ से चला गया था कि—न कम्बल होगा, न यहाँ सोयेगा, साला, क़ानून तोड़ता है…

आज भी याद करके उसे हँसी आ गई…आज पार्क में सोया जा सकता है। न कम्बल है, न रात है, न उतनी सर्दी है…बदन का कम्बल न हो तो क़ानून तोड़ने की सज़ा भी कोई क्या देगा…

पार्क में घुसकर उसने एक अच्छी-सी जगह टटोली और लेट गया… लेटते ही उसे नींद आ गई…सोते-सोते उसने खुद से कहा, कितनी बढ़िया नींद आती है, पार्क में…'

सुधीर की आंख खुली तो शाम होने वाली थी। पार्क में गहमा-गहमी बढ़ गई थी। चारों तरफ बच्चे खेल रहे थे। खेलते बच्चों के बीच सोया एक आदमी जरूर मनहूस लग रहा होगा…उसने सोचा। उनके

खेल में बाधा पड़ रही होगी, उसके होने से। वह उठा और पार्क के गेट पर जाकर खड़ा हो गया···

उसका दिमाग़ इस समय बिल्कुल खाली है···

···यह कौन-सी जगह है, जहां वह खड़ा है···

···कौन-सा शहर···

सोने से पहले का कुछ उसे याद नहीं है···

इस जगह वह पहले कभी नहीं आया···

अब कहाँ जाना है···

कहाँ जाये ?

जाना तो कहीं न कहीं पड़ेगा ही···

कुछ दूर चलकर सुधीर एक बस-स्टाप पर खड़ा हो गया है···एक बस आई है···बिना नम्बर देखे वह उस पर चढ़ गया है···

बस में भीड़ बहुत है···सुधीर ढूंढ रहा है कोना···सबसे पीछे···पर उस कोने में कोई खड़ा है···उसकी तरफ देख रहा है···सुधीर ने भी देखा है···कैसी नज़र है···उसे धुरधुरी-सी आई है···वह आगे खिसक जाना चाहता है···पर भीड़···वह फँसा खड़ा है···

नज़रें उस पर टिकी हैं···वह आगे खिसकना चाहता है···पर भीड़ के शिकंजे में हिलने-डुलने की कोई गुंजाइश नहीं है···वह खिड़की से बाहर देख रहा है···कुछ ही दूर बस के साथ-साथ एक रेल भाग रही है···कभी रेल आगे तो कभी बस···सुधीर सोच रहा है···बस से कूद पड़े···रेल पकड़ ले···

बस ने उसे उगल दिया और रेल गायब हो गई···

वह एक तरफ चल दिया है···पैदल···सामने दीखते जंगल की तरफ···शाम का वक्त है···जंगल में घुसते-घुसते रात हो जायेगी···

जंगल में घुसते ही वह जंगल का हिस्सा हो जायेगा··· अलग से आदमी नहीं रहेगा···

सुधीर चल रहा है···सुधीर भाग रहा है···सब पीछे छूटा जा रहा

है···नहीं, सब नहीं···जो उसकी चेतना के अंश नहीं थे, पीछे छूट गये हैं··· पर उसको हमेशा सजग रखने वाला···उसमें लगा घुन···उसे लग रहा है, उसी की घटती-बढ़ती रफ़्तार से कोई उसके पीछे भाग रहा है·· वह दीखता नहीं है···पर है ज़रूर···

कितना अघोरी अकेलापन है···

सब छूट गये हैं···

क्या यह सच है कि प्रतिभा अपने नाखूनों की चिमटी से इस कन-खजूरे को पकड़कर उस में से बाहर फेंक देना चाहती थी···होगा सच··· रुककर सोचने की सुविधा नहीं है···वह पास आता जा रहा है···तेज़··· भागना है जंगल की तरफ़···

हर शहर एक दायरा होता है···भागते-भागते सुधीर दायरे से बाहर निकल आया है···और तभी किसी ने जोर से उसे आवाज़ दी है···

वह ठिठक गया है···अब बचने की कोशिश बेकार है···उसे डर लग रहा है···वह सुन्न है···पर उसे पता है वह दायरे से बाहर आ गया है और अब किसी तक उसकी आवाज़ नहीं पहुंच पाएगी···आवाज़ वह देगा भी क्यों···मदद उसे नहीं चाहिए···

तभी पीछे के आदमी ने पास आकर उसकी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ा दिया है···

उसने पाया है, उसका हाथ उठ रहा है···मिलाने के लिए···

···ओह ! कैसा बर्फ़ीला हाथ है···जैसे किसी मुद्दत से मरे पड़े आदमी का हाथ हो···



(५९०१२८०)